कमल कलिका

लेखिका

कमल श्री

[illegible]

संयोजक

नौरतनराज भण्डारी

'प्रभाकर'

संशोधनकर्त्ता

ओंकारसिंह लोढा

प्रकाशक

वाड़मेर जैन-महिला-मण्डल

बाड़मेर

मूल्य सद्भावना



विषय-सूची



विषय | पृष्ठ



श्री कमल कलिका



श्री खरतरगच्छाधिपत जगत्पूज्य श्रीमद्द आचाय

श्री श्री श्री १००८ श्री श्री

कृपाचन्द्रसूरिश्वरजी महाराज साहव

के पट्ट शिष्य

आचार्य श्री जयसागर सूरिश्वरभ्यो नम

आपको आज्ञानुयाई

आर्या श्री चन्दन श्रोजी महाराज साहवकी

सुशिष्या श्री कमलश्री

लेखिका —

साध्वी श्री कमलश्री

* ॐ *

स्वर्गीय विदुषी पूज्या श्री १०८ श्रीमती

हेतश्रीजी महाराज साहिब

* स्तुतिः *

* वसन्ततिलका वृत्तम् *

यस्याश्चरित्रमतिबोधकर जनाना-
वाणी विवेक कलितापि मुखे सदैव ॥
शान्त्यादिसद्गुणनिधिपरिराति-
हेतश्रिय प्रतिदिन प्रणमामि सद्य ॥ १ ॥

यस्या हितस्य इतिनाम सदैव योग्य ।
रत्नानि धारयति सौम्यगुणात्मकानि ॥
ज्योति प्रसारयति या परिशीलनेन ।
हेतश्रिय प्रदिदिन प्रणमामि सद्य ॥ २ ॥

सेते सदैव जनता निशि स्पष्टमेतत् ।
जाग्रति चिन्तयति ध्यायति तत्वमेकम् ॥
सोऽह स्मरन्ती बहुश सुगुणाभिरामा ।
हेतश्रिय प्रतिदिन प्रणमामि सद्य ॥ ३ ॥

चरणोपासिका चन्दनश्री

श्री १०८ श्री बाल ब्रह्मचारिणी श्री हतश्रीजी महाराज साहब की प्रथम शिष्या



* श्री चन्दनश्रीजी महाराज साहिब *

जन्म संवत् १९५६ दीक्षा सं० १९७५ माघ शुक्ल ५

* ॐ *

स्वर्गीय विदुषी पूज्या श्री १०८ श्रीमती

हेतश्रीजी महाराज साहिव

* स्तुति. *

* वसन्ततिलका वृत्तम *

यस्याश्चरित्रमतिबोधकर जनाना-
वाणी विवेक कलितापि मुखे सदैव ॥
शान्त्यादिसद्गुणनिधिपरिराति-
हेतश्रिय प्रतिदिन प्रणमामि सद्य ॥ १ ॥

यस्या हितस्य इतिनाम सदैव योग्य।
रत्नानि धारयति सौम्यगुणात्मकानि ॥
ज्योति प्रसारयति या परिशीलनेन।
हेतश्रिय प्रदिदिन प्रणमामि सद्य ॥ २ ॥

सेते सदैव जनता निशि स्पष्टमेतत्।
जाग्रति चिन्तयति ध्यायति तत्वमेकम् ॥
सोऽह स्मरन्ती वहुश सुगुणाभिरामा।
हेतश्रिय प्रतिदिन प्रणमामि सद्य ॥ ३ ॥

चरणोपासिरा चन्दनश्री

श्री १०८ श्री बाल ब्रह्मचारिणी श्री स्वर्णश्रीजी महाराज साहिब की ज्ञान शिष्या



* श्री चन्दनश्रीजी महाराज साहिब *

जन्म संवत् १९५६ | दीक्षा सं० १९७५ माघ शुक्ल ५

* ॐ *

परमपूज्या विदुषी श्री चन्दनश्रीजी महाराज साहिब की

* स्तुति *

संस्कृत

* शार्दूल विक्रीडित वृत्तम् *

सामान्येप्रवरे गुणोत्तम कुले सुग्राम रत्नपुरे ।
श्रेष्ठ नथमल पिता च कुशल मातास्ति सुंडीसती ॥
तत्कुक्ष्या जनन सुख च समभूद् गुर्व्यांमदीयाखलु ।
पायाद्धन्यतमा सुशीलहृदया सा चन्दनश्री मुदा ॥ १ ॥

सौख्याब्धे समुदायिनी खरतर गच्छे च विज्ञानदा ।
सा शान्त्या गुणोत्तमा लघुवया प्रावर्जया पुण्यभाक् ॥
सामीप्ये च हेतश्रिया गुणभृतश्चारित्रमगीकृतम् ।
तत्सेवा त्रिविधेन सादरभरा भूयाच्छ्रियै मे सदा ॥ २ ॥

गम्भीरा जिनशास्त्रबोध सहिता मिथ्यात्व निर्मूलिकाम् ।
नित्यानित्य पदार्थ भावविहिता यस्या वरा देशनाम् ॥
श्रुत्वा जीवन पद्मबोधनवर दीक्षागृहीता शुभा ।
त्वा वन्दे सुभगे मनोहरतमे विज्ञानदे भावत ॥ ३ ॥

दु खस्थानवता नृणाभवमयाब्धौ सा वरा नौ समा ।
बोध्यादौ च समर्पितु वहुजनेभ्य कल्पवृक्षोपमा ॥
सम्प्राप्ता व्रत घोरकष्ट सहने धीरा च मेरो समा ।
गम्भीरानृकृते हि सागरसमा मानोपमाने सदा ॥ ४ ॥

सद्भक्त्या सतत परान् गुणवत पचेश्वरान् ध्यायति ।
मूर्च्छामत्सर वर्जिता प्रभुगुणान् या गायति प्रत्यहम् ॥
कल्याण स्वपर सुसाधयति सा स्वाचार मग्नामति ।
पूज्या पुण्यभरा श्रिय दिशतुमे पूज्येश्वरी मोक्षदा ॥५॥

धर्मध्यानरता महोदयवरा सद्भाव निष्ठा सदा ।
पापाना बलनाशने भगवती वीर्यादियुक्ता शुभा ॥
सद्बुद्धया खलु तद्गुणान् कथयितु विद्वज्जनो नप्रभु ।
बालत्वेन तथापि तद्गुण कथाकर्तु न शक्तिश्च मे ॥६॥

विद्वद्वर्या विदुषीश्च भगवती सौख्य च मान् दायिनी ।
यस्या सद्गुण वरण च मुढधिया कर्तु समर्था न मे ॥
प्राप्ताया कमलश्रिया चरणयो तस्याश्च भूयाच्छिवम् ।
कल्याण विदधातु सर्व जगता सा चन्दनश्री मुदा ॥ ७ ॥

भवदीया चरणरज —
कमलश्री

॥ श्री ॥

* श्री दादागुरुभ्यो नम *

श्री श्री १०८ श्री बालब्रह्मचारिणी श्री हेतश्रीजी
महाराज साहब जो स्वर्गवासी है उन्हो को
नमस्कार (प्रणाम) करके और उनकी
रत्न शिष्या श्रीमती चन्दनश्रीजी
महाराज साहिबा के चरण
कमलों की सेवा (सुश्रुषा)
करके बुद्धि का कुछ
विकास करना
चाहती हू।

हे भगवतीजी आपकी कृपा से, शुभ आशीर्वाद से
कार्य में सफलता प्राप्त होवे, इसलिये आप श्री
मेरी नम्र प्रार्थना सुन के
आज्ञा दीजिये ।

बाल क्रीड़ा के समान मै भी क्रीड़ा करती हुई
अल्प कार्य करने में उत्कठित हू।

श्री वर्धमानाय नत्वा, धर्म मार्ग प्रदर्शितम् ।
विश्वेज्ञान प्रकाशितम्, नृप सिद्धार्थ नन्दनम् ॥ १ ॥

गौतम गणधर प्रगट प्रभाव ॥ स लब्धि सिद्धि निधि
वाच्छित वाक् प्रवध विघ्नाध कार हरणी तरणी
प्रकाश सहाय कृत भवतु मे वीर शिष्य ॥ २ ॥

सरस्वती महादेवी वरदे काम रूपिणी ।
सर्व विघ्न दूरे करी देविद्या परमेश्वरी ॥ ३ ॥

दासानुदास इव सवदेवा, यदीय पादाब्ज तले लुठति ।
मरूस्थली कल्पतरू, सजीयाद युगप्रधानो जिनदत्तसूरि ।

वर खूमसिंह सुत

वर खूमसिंह जनक सुखद कृत उमरावती विमन प्रमुद ।
विगतव्य सन हितद समुदा सूरिराजमह प्रणमामि सदा ॥



* गुरु वन्दना *



श्री चन्दन गुरु प्रसादेर्मम कार्य सिद्धि र्भविष्यति ।
भक्तिमामाधारो कमलभवति किङ्करी तव ॥

मैं काय को प्रारम्भ करने के लिये उत्कण्ठित हो रही हू । श्री दत्त कुशल गुरु महाराज को नमस्कार करती हू । श्री सरस्वती देवी को प्रणाम करके, आचार्य भगवन् श्री कृपाचन्द्र सूरिश्वरजी महाराज साहब तथा जयसागर सूरिश्वरजी महाराज साहब को वन्दना करके व भगवतीजी श्री हेतश्रीजी साहब को सविनय नमस्कार करके, गुरुवर्या श्रीमती चन्दनश्रीजी महाराज साहब के शुभ आशीर्वाद प्राप्त कर काय प्रारम्भ करती हू ।

अल्प बुद्धि होने पर भी इस काय के लिये मेरे हृदय में चञ्चलता हो रही है, जैसे कोई वावना (छोटा) मनुष्य महान् ऊँचे वृक्ष के फल प्राप्त करने के लिये अपने हाथों को ऊँचा करता है । और वह हँसी का पात्र होता है, इसी प्रकार बुद्धिमानों के समक्ष हँसी की पात्र हू ।

श्री कमल श्री





श्री कमल कलिका



जैन धम का यह सवमान्य व सर्वोत्तम सिद्धान्त है। वह मुद्रा लेख भी कहा जाता है जिसके अनुसार पालने से जीवात्मा अन्त मे अपना साक्षात्कार करता है।

विश्व में मुख्यतया दो पदाथ हैं वह कैसे हैं। जड व चैतन्य। ससारी जीवों की स्थिति मिट्टी से मिश्रित सुवण के बराबर है, जैसे कि सुवर्ण मे मिट्टी अनादि काल से लगी रहती है, उसी प्रकार से जीव और कम का सम्बन्ध अनादि काल से लगा हुआ है, जब सुवर्ण अग्नि मे तप्त होता है तब वह शुद्ध व स्वच्छ हो जाता है।

वैसे ही जब आत्मा सवदा कम मल से मुक्त हो जाता है, सब प्रकार के कर्मों को ज्ञान ध्यान तप, जप आदि अनेक क्रिया करके कर्मों का क्षय कर देते हैं, तब वही आत्मा किसी दिन परमात्मा कहलाने योग्य हो जाती है और मुक्त (मोक्ष) गामी हो जाती है।

परन्तु देखिये मोक्ष की साधना करने में भी अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं। सोने की परीक्षा करने की कसोटी होती है, जिससे सुवर्ण की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार धर्म कार्य मे भी मनुष्य की परीक्षा होती है अनेक प्रकार की बाधाएँ आजाती हैं। परन्तु मनुष्य जब धर्म पर श्रद्धा रख, सब आपत्तियो को जीत लेता है, वही आत्म परीक्षा में उत्तीर्ण होजाता है। लेकिन अटल श्रद्धा रखे और धर्म कार्य करे क्रियाएँ करे उसमे भी क्या होता है, कि तेरह काठिया आडे फिरते हैं। वे भी अन्तराय करते हैं।

१३ तेरह कांठियो के नाम

काठिया —(१) आलस्य, (२) मोह, (३) अविनय, (४) अभिमान, (५) क्रोध, (६) प्रमाद, (७) कृपण, (८) भय, (९) शोक, (१०) अज्ञान, (११) विकथा, (१२) कौतुक, (१३) विषय।

इन तेरह काठियों की फौजें बहुत बलवान हैं, ये सब धर्म सम्बन्धी क्रियाओं में विघ्न डालते हैं। जो शक्तिमान मनुष्य

होता है, वह इन तेरह क्रांठियों पर विजय पाता है और अपना कार्य सिद्ध करके मोक्ष का अधिकारी वन जाता है।

परन्तु मोक्ष का अधिकारी कव हो सकते है, कि काम, क्रोध और लोभ आदि का परित्याग करे तव।

भगवान ने फरमाया है कि —

> त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन ।
> काम क्रोधस्तथा लोभस्तमादेतत्रय त्यजेत ।।

काम, क्रोध और लोभ ये आत्मा का पतन करने वाले हैं। और यह तीनों नरक के द्वार हैं। अतएव इन तीनों का त्याग करना उचित है।

धर्मराज ने कहा है - कि क्रोध मनुष्य का नाश करदेता हैं क्रोध के वश में होकर ही मनुष्य पाप कर्म करता है, और अपने गुरुजनों का अपमान करता है व श्रेठ पुरुषों का कठोर वाक्यों से अपमान (तिरस्कार) कर देता है।

क्रोधी मनुष्य यह नहीं जान सकता कि, कहा कैसे वोलना चाहिये और कौनसा कार्य करना चाहिये। क्रोध के कारण मनुष्य नहीं करने जैसे कर्म कर डालता है। आत्म हत्या तक

कर बैठता है, इस प्रकार सुज्ञजन को कोध का परित्याग करना चाहिये। और "अहिंसा परमो धम" का पालन करना चाहिये।

अहिंसा वह अमोघ व अमूल्य शस्त्र है, जो पञ्चवृत्त है जैसे —दया, सत्य, अचौय, ब्रह्मचय और निष्परिगृहत्व नाम से प्रसिद्ध है जिसको उपनिषदों ने भी स्वीकार किया है। वह सब अहिंसा मे अन्तर्भावित है। इसलिये अहिंसा ही परमोधर्म है।

महाभारत मे भी वर्णन किया है —

श्लोक--धर्म समा हित पु सा धर्मश्चैवाश्रय सताम्।
पर्माल्लोका स्त्रयस्तात प्रवृता सचराचरा ॥

भावार्थ —धम ही सत्पुरुषों का हित है, और धम ही सत्पुर्षों का आश्रय है, और चराचर तीनों लोक धर्म ही से चलते हैं।



जड़ और चैतन की समीक्षा का वर्णन

अब यहा पर एक और ध्यान देने का है कि जिस चेतना शक्ति का यानी क्रियाशीलता को हमने जीव का नाम दिया है, और जो निष्क्रिय वस्तु है उसको जड के नाम से पुकारा है यह कब से है ? अगर यह माना जाय कि एक समय था जब कि जीव नहीं था मात्र जड पदार्थ ही था अथवा पहले जीव-चेतन ही था। जड नहीं था। ऐसा कभी नहीं हो सकता। क्योंकि ससार में ऐसा नियम है कि एक ही स्वभाव व स्वरूप वाला पदार्थ कभी नहीं रह सकता।

शब्दों का उच्चारण हमेशा सापेक्ष होता है। कोई भी शब्द उच्चारण करिये उसके प्रतिपक्ष मे कोई न कोई शब्द जरूर रहेगा जैसे सत्य का प्रतिपक्षी असत्य, अच्छा का प्रतिपक्षी बुरा। इसी प्रकार हरेक में होता रहता हैं। इसी प्रकार चैतन्य और जड यह दोनों पदार्थ विद्यमान थे और हैं भी। अनादि काल से यह दोनों पदार्थ चले आ रहे हैं, कोई भी समय ऐसा नहीं था कि जिस दिन केवल चैतन्य पदार्थ ही रहा हो और जड पदार्थ नहीं हो। या जड रहा हो और चैतन्य न हो, ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। दोनों के स्वभाव भिन्न हैं। और भिन्न होते हुए भी अनादि काल से दूध और पानी की तरह ओतप्रोत भी हैं।

कर वैठता है, इस प्रकार सुज्ञजन को कोध का परित्याग करना चाहिये। और "अहिंसा परमो धम का पालन करना चाहिये।

अहिंसा वह अमोघ व अमूल्य शस्त्र है, जो पञ्चवृत्त है जैसे —दया, सत्य, अचौय ब्रह्मचय और निष्परिगृहत्व, नाम से प्रसिद्ध है जिसको उपनिषदों ने भी स्वीकार किया है। वह सब अहिंसा मे अन्तर्भावित है। इसलिये अहिंसा ही परमोधर्म है।

महाभारत मे भी वण न किया है —

श्लोक--धर्म समा हित पु सा धर्मश्चैवाश्रय सताम्।
पर्माल्लोका स्त्रयस्तात प्रवृता सचराचरा ॥

भावार्थ —धम ही सत्पुरुषों का हित है, और धम ही सत्पुर्षों का आश्रय है, और चराचर तीनों लोक धर्म ही से चलते हैं।



जड़ और चैतन की समीक्षा का वर्णन

अव यहां पर एक और ध्यान देने का है कि जिस चैतना शक्ति का यानी क्रियाशीलता को हमने जीव का नाम दिया है, और जो निष्क्रिय वस्तु है उसको जड के नाम से पुकारा है, यह कब से है ? अगर यह माना जाय कि एक समय था जब कि जीव नहीं था, मात्र जड पदाथ ही था, अथवा पहले जीव चैतन ही था। जड नहीं था। ऐसा कभी नहीं हो सकता। क्योंकि ससार मे ऐसा नियम है कि एक ही स्वभाव व स्वरूप वाला पदाथ कभी नहीं रह सकता।

शब्दों का उच्चारण हमेशा सापेक्ष होता है। कोई भी शब्द उच्चारण करिये उसके प्रतिपक्ष में कोई न कोई शब्द जरूर रहेगा, जैसे सत्य का प्रतिपक्षी असत्य, अच्छा का प्रतिपक्षी बुरा। इसी प्रकार हरेक में होता रहता है। इसी प्रकार चैतन्य और जड यह दोनों पदाथ विद्यमान थे और हैं भी। अनादि काल से यह दोनों पदार्थ चले आ रहे हैं कोई भी समय ऐसा नहीं था कि जिस दिन केवल चैतन्य पदार्थ ही रहा हो और जड पदाथ नहीं हो। या जड रहा हो और चैतन्य न हो, ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। दोनों के स्वभाव भिन्न हैं। और भिन्न होते हुए भी अनादि काल से दूध और पानी की तरह ओतप्रोत भी हैं।

दोनों भिन्न स्वभाव के होने के कारण एक समय आता है जब कि ये दोनों अलग अलग हो जाते हैं। यहा तक कि जिसको हम आत्मा कहते हैं, वह पुरुषार्थ करते हुए अपने विजातीय जड द्रव्य को किसी समय सर्वथा दूर फेंकदेता है। और वह सिद्ध स्वरूप बन जाता है।

अब एक और उदाहरण देकर स्पष्ट करके समझाती हू। भारी गड्ढा खोदते समय मिट्टी का ढेर निकलता है। हम जब उसको देखते हैं तो मिट्टी कहते हैं। लेकिन कोई वैज्ञानिक देखता है तो उसमें सुवर्ण देखता है। कोई पूछे तो मिट्टी और सोना कब इकट्ठे हुवे। और किसने इकट्ठे किये? और क्यों किये? तो इसका कोई जवाब नही। कहना पडेगा कि यह दोनों अनादि काल से मिले हुवे हैं। फिर भी दोनो का स्वभाव भिन्न भिन्न हैं। और भिन्न होने के कारण ही दोनो को अलग अलग कर दिये जाते हैं। मिट्टी मिट्टी ही हो जाती है। और सुवर्ण सुवर्ण ही रह जाता है।

ठीक इसी प्रकार जीव और शरीर, चेतन और जड, दोनो आपस मे अनादि काल से मिले हुए है। परन्तु पुरुषार्थ करते करते आत्मा के लिए एक समय ऐसा आवेगा कि जब आत्मा चेतन का सम्बन्ध शरीर से, जड से, कर्म से, पदार्थ से सर्वथा का छूट जायगा। बस यही जीवन के विकास की व आत्मा की उन्नति की पराकाष्ठा है।

जीवन विकास मे भेद

ससार में रहते हुए हम जीवन के विकास के कई भेद देखते हैं। और कई अपेक्षाओं से, त्याग व सयम की अपेक्षा हम यह कहते है कि यह ऊँची शुद्ध आत्मा है। विपयो की लोलुपता के तारतम्य की अपेक्षा से भी हम ऊँच नीच आत्मा समझते है। ससारिक सुखो के साधनो और पुन्यप्रकृति की अपेक्षा से भी हम जीवन विकास के ऊँच नीच भेद करते हैं। कपायो की मन्दता तीव्रता की अपेक्षा से भी जीवन के विकास की ऊँच नीच अवस्था समझते हैं।

जातियो और कुलो की उत्पत्ति आदि नाना प्रकार के कारणो से ही हम ऊँच नीच का भेद समझते हैं। सच तो यह है कि आत्मा का विकास यही है कि, हमारे दुगुण दूर हो। जितनी मात्रा में हमसे दुगुण दूर हो गे उतनी ही मात्रा में हम जीवन का विकास मानेंगे।

हम ऐसे कई जीवो को देखते हे कि ससार में रहते हुए स्त्री, पुरुप, पुत्र, पिता, माता भाई आदि परिवार रहते हुए व्यापार-रोजगार करते हुए और श्रीमन्ताई भोगते हुए भी वे दुनियादारी की चीजो के साथ कुछ भी सम्वन्ध नहीं रखते हैं। वह आत्मा विलकुल उदासीन भाव से ही सर्व कार्य करता है।

कई जीव ऐसे भी होते हैं कि जिनके पास कोई ज्यादा सम्पत्ति नहीं होती है और साधारण से साधारण चीजो से ही

अपना जीवन व्यतीत करते हैं। तथापि उन साधारण चीजो पर भी उनकी इतनी आशक्ति, लोलुपता रहती है कि कोई और चीज उसके ध्यान में ही नहीं आती। बल्कि यो कहना चाहिए कि सब कुछ उसके लिए यही है। आत्मा जसी कोई चीज उसके लिये नहीं है। यह शरीर यही मैं, यह पैसा यहीं, मैं, स्त्री, पुत्र परिवार, यही मैं, सब उन्हीं को अपना समझता है, इन्हीं कारणो से शास्त्रकारो ने जीव विकास को दिखलाते हुए आत्मा के तीन भेद बतलाते हुए कहे हैं।

आत्मा के भेद बतलाते हैं कि आत्मा के कितने भेद हैं।

आत्मा के भेद

१ बहिरात्मा।
२ अन्तरात्मा।
३ परमात्मा।

बहिरात्मा यह है –

श्लोक–आत्म बुद्धि शरीरादो यस्यस्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा सविज्ञेयो मोह निद्रा स्तचेतन ॥

भावार्थ—शरीर, पुत्र, धन माता, पिता पत्नि और ससार के सब पदाथ यही मैं हू, यही मेरी आत्मा है, वह मुझ से पृथक् नहीं। और उसी में वह मरता है। अर्थात् मोह रूपी

निन्द्रा मे जो वे मान पडा है, उसी आत्मा को वहिरात्मा कहा गया है, यानी वाहर की वस्तुओ में ही जो आत्मा को देखता है—इसके विपरीत जो वाहर के पदार्थों को अपने से भिन्न समझता है, और आत्मा को उससे भिन्न समझता है वह अन्तरात्मा है।

श्लोक - वहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्म निश्चय ।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ञ्जै विभ्रू मध्वान्त भास्करै ॥

जो मनुष्य वाह्य पदार्थों में से, मोह की वृत्तियो को हटा लेते हैं। और आत्मा में ही आत्मा का निश्चय करता है। वह समझता है, आत्मा एक भिन्न पदाथ है और यह वाह्य पदाथ जितने हैं वह भिन्न हैं। आत्मा नित्य है वाह्य पदार्थ अनित्य है। ऐसी भावना में जो दृढ होता है। उसीका नाम है, अन्तरात्मा और यही वात महा ज्ञानियो ने कही है।

भरत चक्रवर्ती के पास चक्रवर्ती की ऋद्धि स्मृद्धि थी। स्त्री, पुत्र, परिवार, सव कुछ था। हजारो वर्षों तक लडाइयाँ की थी। लाखो मनुष्यो की लडाई में कत्ले आम की थी, लेकिन भरत चक्रवर्ती ने शीश भवन (आरिशा भवन) में वैठ कर केवल ज्ञान प्राप्त किया था। क्या कारण था ? यही कारण था इतने सव पदार्थों के रहते हुए भी वे समझते थे कि—

अनित्य ससारे भवति सकल यन्नयनगम् ॥

अर्थात्—मेरी आखो से जितने पदार्थ देखे जाते हैं वे सब अनित्य हैं। ऐसा समझ कर उसी जीवन मे केवल ज्ञान को प्राप्त कर लिया। तात्पर्य यह है कि ससार के पदार्थों को भिन्न समझना और अपनी आत्मा को भिन्न समझना यह बहिरात्मा की अपेक्षा से जीवन विकास अधिक महत्पूर्ण है।

अब जीवन विकास की पराकाष्टा, यही परमात्मा दशा। ससार के सारे पदार्थों को छोड कर जो आत्मा सिद्ध स्वरूप हो जाता है निर्लेप आवरणो से रहित निराकार, निरञ्जन बन जाता है उसको परमात्मा कहते हैं।

परमात्मा अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा, मुक्त आत्मा, सिद्ध आत्मा जो भी कुछ कहिये। बस हमारे जीवन का परम ध्येय जीवन विकास की पराकाष्टा यही है। परमात्मा का स्वरूप शास्त्रकारो ने यो दिखलाया है—

सर्वज्ञो जितरागादि दोष स्त्रैलोक्य पूजित ।
यथा स्थितार्थवादीच देवोऽर्हन् परमेश्वर ॥

जो सर्वज्ञ है रागादि दोषो को जिसने जीत लिये हैं। तीन लोक से जो पूजित है। यथास्थित पदार्थों का जो वर्णन करने वाले हैं। उन्हीं को देव अर्हत् या परमेश्वर कह सकते हैं। दूसरे शब्दो में कहा जाय तो—

निर्लेपो निष्कल शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्त निवृति ।
निर्विकल्पश्च शुद्ध आत्मा परमात्मेति वर्णित ॥

अर्थात् जो निर्लेप यानी लेप रहित है, क्लेश रहित है, जो शुद्ध है राग द्वेषादि विकार जिसमें नहीं है, अत्यन्त निर्विकल्प है अविनाशी सुख स्वरूप है जिसमें कोई भेदभाव नहीं है ऐसी जो शुद्ध आत्मा है वही परमेश्वर है। इन्हीं को वीतराग भी कहते हैं। भगवान भी कहते हैं। तीर्थङ्कर भी कहते हैं। ऐसे जिन भगवान (तीर्थङ्कर) कोई एक नही हुवा है।

पूर्व काल में जिन तीर्थङ्कर अनन्त हो गये हैं। और भविष्य में भी अनन्त होवेंगे, अत जैनधर्म अनादि काल से चला आ रहा है, जैन धर्म का सिद्धान्त बहुत गम्भीर है, अत उसका पूरा परिचय तो जैन धर्म के प्राचीन ग्रन्थो के अध्ययन करने से अथवा अवलोकन करने ही से हो सकता है। हा, सक्षेप में दर्शाया जाता है। जैन धर्म के मोटे मोटे सिद्धान्तो का परिचय कुछ देती हू—

१ जगत अनादि है।
२ आत्मा अमर है।
३ आत्मा अनन्त है।
४ आत्मा ही परमात्मा बन सकती है।
५ आत्मा ही से कर्म बन्धा है।
६ आत्माही कर्मों के बन्धन को तोड़ती है।

७ कम ही संसार है।
८ कम का क्षय ही मुक्ति है।
९ कर्म खुद जड है।
१० अशुद्ध भावो से ही कर्म बन्धते हैं।
११ शुद्ध भावो से कम क्षय होते हैं।
१२ स्वर्ग नरक व मोक्ष है।
१३ पुण्य और पाप है।
१४ शुद्ध आचरण ही श्रेष्ठ है।
१५ अहिंसा ही सब से बडा धर्म है।

अहिंसा परमो धर्म सब ही मानते है। परन्तु इसका पालन करने वाले ही कर सकतेहैं। जो धर्म के मर्म को समझते हैं। और समझते हुए भी उस पर श्रद्धा रखते हैं वही आत्मा श्री जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन कर सकता है।

देखिये यहां ध्यान देकर पढिये। तीन रत्न जो हैं वे अमूल्य हैं मोक्ष की वाछा रखने वाले प्राणी को चाहिये कि इन तीनो रत्नो की आराधना करने से आत्मा की शुद्धि होती है ज्ञान दर्शन और चरित्र यह तीनो रत्न है जिनकी व्याख्या श्री जिनेन्द्रदेव ने की है।

तीर्थङ्करदेव किसे कहते है

तीर्थ तैरने के साधन को कहते है। अर्थात् जो संसार रूपी सागर को तैरने के साधनो का उपदेश करते है। तै॰

के साधनो का प्रचार करते है वह तीर्थङ्कर है। भगवान महावीर स्वामी आदि जो जिन भगवान हुए है वे तीर्थङ्कर कहलाये है।

ससार रूपी सागर से तैरने के क्या साधन है ?

ससार रूपी समुद्र से तैरने के साधन तीन है —

१ सम्यग्दर्शन।
२ सम्यग् ज्ञान।
३ सम्यग् चारित्र।

सम्यग्दर्शन किसे कहते है। सम्यग् ज्ञान किसे कहते है। सम्यग् चारित्र किसको कहते है। इनकी अलग अलग व्याख्या की जाती है।

सम्यग्दर्शन किसे कहते है—देव अरिहन्त भगवान अरिहन्त क्यो कहलाये। जिनके कोई भी अरि (शत्रु) नही। जिसने राग द्वेष रूपी शत्रुओ को जीत लिये है। वही अरिहन्त कहलाते है। गुरु निर्ग्रन्थ यानी जो कञ्चन और कामिनी के त्यागी व जिनेश्वर देव के बतलाये हुए मार्ग पर चलने वाले। और भव्य प्राणियो को सद्व उपदेश दे कर रास्ते पर लाने वाले जैन साधु और धर्म अहिंसा, सत्य आदि जैनधर्म इन तीनो की सच्ची श्रद्धा का नाम ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन को सम्यक्त्व भी कहते है। और सम्यक्त्व अर्थ खरापन

है। जाच पडताल करके विवेक पूर्वक सच्चे देव, सच्चे गुरु और धर्म को मानना ही सम्यक्त्व है। जो इस प्रकार के सम्यक्त्व की धारणा करे वह साधक सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

सम्यग् ज्ञान का वर्णन

वस्तु के स्वरूप को यथार्थ जानना। सच्चे रूप से समझना सम्यग् ज्ञान है जीव अजीव व पाप पुण्य आस्रव, सम्वर निर्जरा बन्ध और मोक्ष इन नौ तत्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान करना सम्यग् ज्ञान है। सम्यग् ज्ञान पूर्ण रूप से अरिहन्त दशा मे प्राप्त होता है। जब राग द्वेष का क्षय कर केवल ज्ञान को प्राप्त करलेता है। तव वह पूर्ण सम्यग्ज्ञानी हो जाता है।

सम्यग् चारित्र का वर्णन

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनुसार यथार्थ रूप से अहिंसा, सत्य आदि सदाचार का पालन करना ही सम्यग चारित्र है। गृहस्थ का सम्यग चारित्र अधूरा होता है। व साधु का सम्यक्चारित्र पूर्ण होता है। परन्तु साधु के सम्यग् चारित्र की पूर्णता भी केवल ज्ञान होने के वाद मोक्ष में जाने से कुछ समय पहले ही होती है। आत्मा की पूर्ण निष्कर्प अर्थात् अचञ्चल अवस्था का नाम ही योग निरोधन रूप पूर्ण चारित्र है। और

इसी समय प्राप्त होता है। सम्यग चारित्र के पूर्ण होते ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पहले सम्यग्दर्शन होता है। बाद में सम्यग्ज्ञान होता है। और इसके बाद मे सम्यग्चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा के बिना ज्ञान के सम्यग्ज्ञान नही होता। अज्ञान ही रहता है। और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र सम्यग्चारित्र नहीं होता सदाचार नहीं होता अनाचार ही रहता। जैन धर्म में उक्त सम्यग्दर्श, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को रत्न कहते हैं।

वस्तुत आत्मा का यही अन्तरग धन है। इस अन्तरग धन के द्वारा ही आत्मा सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकता है। यह जैन धम का रत्न त्रय सदा काल जयवन्त रहे।

उन रत्नत्रय को जो भव्यात्मा ग्रहण करता है। इनका आदर करता है वही आत्मा किसी दिन परमात्मा के रूप में हो जाता है।



★ आत्मा का स्वरूप ★

आत्मा क्या है ? जो सदा अमर रहती है, जिसका कभी नाश नहीं होता जो नारकी पशु मनुष्य और देव गतियों में नानारूप पाकर भी कभी अपने अमर स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होती वह आत्मा है। जिस प्रकार पुराना कपडा छोड कर नया पहना जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराना शरीर छोड कर नया धारण कर लेती है। जन्म मरण के द्वारा केवल शरीर बदला जाता है। आत्मा का कभी नाश नही होता। यह आत्मा न तो शस्त्र से कटती है, न आग में जलती है, न धूप से सूखती है, न जल में भी गती है, न हवा मे उडती है। यह सब प्रकार से सनातन और अचल है। आत्मा ज्ञान रूप है। हरएक वस्तु को जानना, देखना, मालूम करना आत्मा ही का धर्म है। जब तक मनुष्य जीवित रहता है (अर्थात् शरीर में आत्मा रहती है) तब तक जानता, है, देखता है, सूंघता है, चखता है, छूता है, सुख दुख का अनुभव करता है। और जब शरीर में आत्मा नही रहती, तब कुछ भी ज्ञान शक्ति नही रहती।

अत जैन धर्म में आत्मा को ज्ञान स्वरूप कहा है। आत्मा अरूपी है। उसमे न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है। आत्मा पकडने जैसी चीज नही है। जब पदार्थों मे वायु सूक्ष्म कहा है परन्तु वायु का तो स्पश होता है, आत्मा का तो स्पर्श भी नही होता। अतएव वह अमूर्त होती है। रूप, रस आदि शरीर के जड के धर्म हैं, आत्मा के नही।

ससार में आत्मा अनन्त हैं । अनन्त का अर्थ है जो गिनती से बाहर हो जो सीमा से बाहर हो जो नाप तोल से बाहर हो । आत्माओं की कमी सख्या की दृष्टि से अन्त नही होता इसलिये आत्मा अनन्त हैं । यही कारण है कि अनन्त काल से आत्माएं मोक्ष में जा रही हैं । फिर भी ससार में आत्माओं का कभी अन्त नही आया । और न कभी भविष्य में आएगा । जो अनन्त हैं फिर भला उनका अन्त कैसा ? यदि अनन्त का भी कभी अन्त आजाय तब तो अनन्त शब्द ही मिथ्या हो जाय ।

आत्माओं के दो भेद हैं । ससारी और सिद्ध । सिद्धों में भेद का कारण कर्म मल नही रहता । अत वहां कोई मौलिक भेद नही होता । हा ससारी जीवों के नरक तिर्यंच आदि गति और एकेन्द्रिय आदि जाति इस प्रकार भिन्न भिन्न दृष्टि से अनेक भेद हैं ।

यहा मैंने स्थावर त्रस सज्ञी असज्ञी आदि भेदों में न जा कर आत्माओं के ही तीन भेद पूर्व बतला दिये हैं । ऐसा अमूल्य मनुष्य जन्म प्राप्त करके जो मनुष्य जीव अजीव आदि इन तत्वों को नहीं जानते हैं और प्रमाद में पड कर अपना सारा जीवन बर्बाद कर देते हैं । वह मनुष्य होता हुआ भी पशुओं की गिनती में है । वह बिना सीग पूछ के पशु कहलाते हैं । मनुष्य और पशु में क्या अन्तर है सो देखिये —

अहार निन्द्रा भय मैथुनश्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हितेषामधिको विशेष धर्मेणहीना पशुभि समाना॥

अर्थ —भोजन निन्द्रा भय और मैथुन यह चार बातें तो मनुष्य व पशुओं में समान ही है। परन्तु मनुष्य में केवल धम ही अधिक है। इसलिए मनुष्य जन्म प्राप्त कर के धर्म में वृद्धि ला कर के धर्मकार्य करने मे हमेशा जाग्रत रहना चाहिये। अपने अमूल्य समय को निरथक नही जाने देना चाहिये। क्योंकि यह मानव जीवन चिन्तामणी रत्न के समान है। जो वार वार नही मिलता।

चिन्तामणी रत्न व उसका प्रभाव

एक ग्वाला जगल मे गायें चराता था। दोपहर का वक्त था। गर्मी के दिन थे। वह थका हुआ एक तालाव के किनारे चला गया। किनारे पर एक वडा वड का वृक्ष था। उसकी छाया मे गायें बैठ गई और वह ग्वाला किनारे पर एक जगह छाया देख कर बैठ गया। वहा पर एक काँच का टुकडा पडा था, वह उसके हाथ मे आ गया।

वह उसको वडा सुन्दर लगा। उसको उसने काच का टुकडा समझा था। सुन्दर रमणीक और चमकदार है, मेरे लडके को यह वडा पसन्द आवेगा। उसे अच्छा लगेगा। उसके खेलने के लिये एक अच्छी चीज हो जायगी। इसे फेंकना नही चाहिये। वह उस काँच के टुकडे को अपने कपडे के एक छोर

(पल्लू) में बाध लेता है। ग्वाला तालाब के किनारे बैठा था। दोपहर का समय था उसे भूख लगी थी। वह सोचता है बडी जोर से भूख लगी है परन्तु यहा तो कुछ खाने को नहीं। बडे लोग खूब ऐश आराम करते हैं। अच्छे २ व्यञ्जन सेवन करते हैं, उन्हे भूख कभी नही सताती। मुझे भी कुछ स्वादिष्ट पदार्थ मिल जाय और तालाब का पानी ठण्डा २ पीने को मिल जायतो कितना अच्छा हो। भूखा मनुष्य खाने के सिवाय और क्या सोच सकता है।

सोचते २ ग्वाला देखता है तो गरम गरम पदार्थ व जल आदि सब सामग्री ग्वाला के समक्ष रखी है। अहा हा! यह क्या हो गया ग्वाला आश्चर्य करता हुआ कहता है। फिर सोचता है इतने व्यञ्जनो को जो मेरा परिवार (स्त्री पुत्र) सब साथ बैठ कर खूब खावें। ग्वाला के विचार करते ही उसी समय उसी स्थान पर अपना परिवार वहा ही उपस्थित देखता है। वह ग्वाला आश्चर्य में हो जाता है। सोचता है जो कुछ मनमें कल्पना करता हू वही हो जाता है। अगर ऐसी बात है तो फिर एक सुन्दर महल भी यहा बन जाना चाहिए तो खूब आनन्दमय जीवन व्यतीत हो। और आरिसा भवन में बैठ कर जीवन का आनन्द लूँ। यह सब इच्छित हो जाती है। वह ग्वाला अपने पुत्र स्त्री आदि सौजन्य परिवार को लेकर आनन्द से महल में निवास

करता है। आराम के सभी साधन उसको इस तरह मिल गये हैं। जीवन भर मे उसने ऐसा कभी देखा नही था। आज महल पाकर वह वडा आनन्द अनुभव कर रहा है व खुश हो गया।

अधिष्ठायक देवता विचार करता है कि इस ग्वाला के इतने पूर्व सञ्चित पुण्य है या नही। वह इन ऋद्धि सिद्धियों को भोग सकता है या नही। यह देख कर के वह (अधिष्ठाता देव) एक कौए का रूप धारण कर के उसके महल में आता है और वह महल के गवाक्ष (गोखडे) मे वैठ जाता है। इधर ग्वाला खूब आनन्द में ऐश आराम कर रहा था। और अपने मन मे विचार कर रहा था कि इस समय अच्छा रसिक सङ्गीत (गायन) होवे तो वहुत आनन्द आवे। उसके सोचने पर गायन भी होने लगा। जब गायन में खूब आनन्द आने लगा तो उस कौए ने अपनी भाषा में क्रो क्रो कर के वोलने लगा। इस प्रकार उस कौए की आवाज उसके सुनने से उसके आराम मे विघ्न पडता है। ग्वाला क्रोधयुक्त होकर वोलता है और कहता है कि यह हरामखोर आकर हमारे आराम मे विघ्न डालता है इसे उडा देना चाहिए तव ताली पीट कर व अन्य उपाय से उस कौए को उडाना चाहा परन्तु उडा नही ज्यादा परेशान करने लगा। वह कहने लगा कि इस कौए को उडाने को कोई पत्थर भी नही मिलता है। इतने मे याद आता है कि एक पत्थर मेरे पल्ले में वन्धा हुआ तो है।

उस पल्ले में बन्धा हुआ वह चिन्तामणी रत्न को वह हतभागा काच का एक मामूली सा टुकडा या एक छोटा सा पत्थर समझता था। हाथ में लेता है और उस कौए को उडानेके लिए उस पर फेंक देता है।

कौवा इस रत्न को अपनी चोंच में लेकर उड जाता है और वह ग्वाला जैसे पहले तालाव के किनारे गायों के पास भूखा प्यासा बैठा था वैसा का वैसा ही हो गया। न महल ही रहा न वह ऋद्धि सिद्धि रही। सब चला गया वह पछताता हुआ रोता है, पर अब क्या है?

भाइयों जरा विचारिये कि इस ससार मे एक एक पदाथ गुणों से भरे हैं। अगर उन गुणो से भरे पदार्थों से भी अपने गुण नही लिये अपने जीवन विकास का साधन नही बताया और उसे योंही काच का टुकडा समझ कर फेंक दिया तो जिस तरह वह मूर्ख ग्वाला अब पश्चाताप कर रहा है कि मैं जो इच्छा करता था वही हो जाता था अरे कही वह चिन्तामणी रत्न तो नही था। वैसे ही आप भी पश्चाताप करेंगे। जब यमराज घर में आकर हमारे सामने खडा हो जायगा। हमारी हालत कमजोर हो जायगी। और डाक्टर या वैद्य हमारी नाडी देख कर कह देंगे कि बस अब तो मामला खतम है। हमारे बस की बात नही, हम नही बचा सकते। उस समय आप रोवेंगे तडफेंगे। आपको चिन्तामणी रत्न याद आवेगा। हाय हाय महापुरुषो ने कहा था कि मनुष्य भव रूपी चिन्तामणी रत्न मिला, सभी प्रकार

के सुख साधन मिले। मुझे गुणानुरागी बन कर अपनी आत्मा का कल्याण करना था। अपने जीवन को निर्मल बना कर आत्म कल्याण करना था। अब भी कुछ करलू। परन्तु अब सोचे क्या होता है जब चिड़िया चुग गई खेत। आपने इस चिन्तामणी रत्न जैसे मनुष्य जन्म को तो अनीति, पापाचार, दूसरों की निन्दा, चुगली, कलह, पैदा करने में खो दिया।

इसलिये हे भव्यात्माओं मेरी आप से यही प्रार्थना है कि जो कुछ करना है अब भी करलें धर्म कार्य में विलम्ब मत करो। किसीने कहा है–

कल करे सो आज कर आज करे सो अब।
क्षण क्षण बीती जाय है, फिर करेगा कब॥

इसी प्रकार विचारिये और अपने को गुणानुरागी बनालो। खूब गुण ग्रहण करो। हर पदार्थ में, हर चीज में हर मनुष्य हर प्राणी से गुण ग्रहण करो। जीव मात्र के गुणों के अनुरागी बनो। अब गुणो को कर्मों की विचित्रता समज कर उस जीव की मानसिक दुर्बलता समजकर कभी ध्यान मत दो। उन्हे बिल कुल छोड दो। आपका कल्याण मार्ग सुगम हो जायेगा।

कितना सुन्दर और सरल मार्ग श्री तीर्थङ्कर देवों ने बतलाया है कि धर्म के बिना मनुष्य जीवन किसी काम का नहीं

श्रौर किसी गिन्ती में भी नही । जो मूख मनुष्य होते हैं वे ऐसे चिन्तामणी को प्रमाद के वस हो कर गवा देते हैं ।

हितोपदेश में कहा है —

काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणम् निद्राया कलहेन वा ॥ १ ॥

अथ —जो वुद्धिमान मनुष्य होते हैं वे अपना अमूल्य समय काव्य शास्त्र आदि का अध्ययन करने में अथवा अवलोकन करने में व्यतीत करते हैं । परन्तु मूख मनुष्य तो उसी अमूल्य समय को व्यसनो (वुरे कर्म) लडाई, झगडे करने अथवा निद्रा लेने मे विताते हैं ।

धर्मार्थ काम मोक्षाणा यस्यैकोपि न विद्यते ।
अजागलस्तस्येव तस्थ जन्म निरर्थकम् ॥ २ ॥

अर्थ – धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों में से जिस महानुभाव के पास एक भी नही है उन्हों का जन्म वैसे ही व्यर्थ है जैसे कि अजा (वकरी) के गले का स्तन निरर्थक होता हैं । उनमें से दूध नहीं निकलता है । उसी प्रकार धर्म के विना मनुष्य जन्म भी व्यर्थ है ।

धर्म ही मनुष्य का आधार हैं धर्म ही जीवन है और धम ही मरने पर साथ चलता है । जैसे महा पुरुषों ने कहा है—

श्लोक यत धमार्थकाम मोक्षाणा यश्चैकोऽपि न विद्यते।

नामुत्रहि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठत ।
न पुत्र दारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवल ॥१॥
एक प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमेव एव दुष्कृतम् ॥ ॥
मृत शरीर मुत्सृज्य काष्ठ लोष्ठ समक्षितौ ।
विमुखा वान्धवायन्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥३॥
तस्माद्धर्म सहायार्थं नित्य सञ्चिनुयाच्छनै ।
धर्मेणहि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥४॥

भावार्थ –माता, पिता, स्त्री पुत्र और जाति वाले ये सव जीते जी के ही साथी हैं। परन्तु परलोक में सहायक नहीं हो सकते। केवल धर्म ही एक सहायक होता है। प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही पुण्य पाप का भोग करता है। भाई वन्धु तो मरे हुए शरीर को श्मशान भूमि मे लेजा कर काठ की चिता में जलाकर वापिस लौट आते हे। केवल धर्म ही प्राणी के पीछे पीछे जाता है।

अतएव परलोक की सहायता के लिये प्रतिदिन थोडा थोडा धम सञ्चय करें क्यो कि मनुष्य धम की सहायता से कठिन नरकादिक से तरजाते हे। धमचर्या मे यदि आरम्भ में

(प्रथम) कुछ कठिनता प्रतीत हो तो भी उसे छोडना नहीं चाहिये।

क्यो कि धम में दृढता रखने से मनुष्य उत्तीर्ण हो जाता है। धम करते समय प्राणियो को कभी कभी आपत्तियो का सामना भी करना पडता है। परन्तु विपत्ति आने पर भी धर्म से चलायमान नहीं होना चाहिये। पापी अधर्मियो की शीघ्र ही खराब गति होती है। ऐसा समझ कर मनुष्यो को चाहिये कि धर्म से दुख पाता हुआ भी अधर्म में मन न लगावें।

धर्म करते समय मनुष्य को समझना चाहिए कि, न मालूम किस समय मेरी मृत्यु आजावेगी और मुझे पकड कर के लेजावेगी। इस पर कहते हैं –

श्लोक--अजराऽमरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्चचिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युनाधर्ममाचरेत् ॥

अर्थ –बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि अपने (आत्मा) को अजर अमर समझ कर विद्या तथा धन कमावे परन्तु धर्माचरण के समय तो मृत्यु को सिर पर बैठी समझें। अर्थात् विद्या तथा धन कमाने में कभी सन्तोष न करना चाहिये, परन्तु धर्म सम्पादन करने के लिये कभी विलम्ब न करना चाहिये क्यो कि न जाने कब मृत्यु समय आजाये। और अपने सिर के बाल पकड के जकडकर ले जावेगी इसका कोई पता नही।

महानुभावो को अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि हम अपने जीवन को व्यर्थ न गमावें इस जीवन का सार अवश्यमेव निकाल लेवें इस बात को कभी नहीं भूलें । और धर्म के मर्म को समझें कि धर्म क्या चीज है। धर्म के अर्थ भी क्या है, और धर्म हमें क्या फल देता है। नवकार मन्त्र की कैसी महिमा है। देखिये नवकार मन्त्र से कितने प्राणियो का उद्धार हुआ है। इस महामन्त्र से वर्तमान में भी कार्य सिद्ध होते है और भविष्य मे भी होवेंगे, इसलिये परमेष्ठी नमस्कार पर अटल श्रद्धा रखना ही जीवन का सार है।

नवकार के प्रभाव पर शिवकुमार का दृष्टान्त

शिवकुमार एक सेठ का पुत्र था, वह कभी धर्म नहीं करता था सप्त व्यसनो का सेवन करता था। सेठ धर्म पर श्रद्धा रखने वाला था पुत्र को बहुत धर्म करने को कहता था परन्तु पुत्र नहीं मानता था सेठजी वृद्ध थे, किसी समय उनके शरीर में व्याधी पैदा हो गई। तब सेठ ने पुत्र को अपने पास बुलाकर कहा, बेटा मैं तुझे एक मन्त्र देता हू। जो तुम्हें कष्ट पडे तब इस मन्त्र का स्मरण करना। पुत्र ने पिता से नवकार मन्त्र सीख लिया बाद मे सेठजी मर गये और पुत्र ने सातो व्यसनो में धन बरबाद कर दिया और इधर उधर फिरने लगा। फिरते फिरते एक योगी मिला और उस सेठ के पुत्र को पूछा कि तू क्यो घूमता फिरता है। लडके ने कहा महाराज मैं धन के लिये फिरता हू। योगीश्वर ने समझा कि ठीक है, तेरा सब कार्य सिद्ध

हो जायगा। योगी बोला भाई तुम्हे अगर धन चाहिये तो एक अखण्ड मुर्दा ले आवो मैं तुमको सुवर्ण पुरुष सिद्ध करदूँगा। वह श्रेष्ठो पुत्र मुर्दे के लिये घूमने लगा तो एक गाँव में मृगी का रोग चल रहा था कि मनुष्य मरते थे। तब एक मुर्दा उसको मिल गया, वह उस मुर्दे को लेकर योगीराज के पास पहुचा, और मुर्दे को सामने रख दिया। योगीश्वर भी सावधान हो गये। और उस लडके से कहा कि तुम इस मुर्दे के पाँव मे तेल का मालिश कर, वह करने लगा मुर्दे के हाथ मे तलवार देदी और पास मे अग्नि जला कर तेल का कडाव उस पर रख दिया और योगी बैठ कर जप करने लगा। उस जाप के प्रभाव से मुर्दा थोडा सा उठा और वापस गिर गया। यह दृश्य देख कर सेठ का लडका डरने लगा और सोचने लगा कि न मालूम यह मुर्दा मुझे मार डालेगा। यह विचार करते करते उसे पिता का मन्त्र याद आ गया और वह नवकार मन्त्र का स्मरण करने लगा। इस महामन्त्र के प्रभाव से मुर्दा हिलने लगा। मुर्दे को हिलते देख कर श्रेष्ठी पुत्र को नमस्कार मन्त्र पर श्रद्धा हो गई और श्रद्धा से पञ्च परमेष्टी स्मरण करने लगा योगी ने कहा अरे तू भी कुछ जाप करता है तब उसने कहा नहीं। महाराज मैं तो कुछ भी नहीं जानता फिर योगीराज ने कहा। अच्छातो और मालिश करो, मैं फिर जाप करता हू। ऐसे करते करते उस लडके को और भी अधिक श्रद्धा हो गई और नवकार मत्र स्मरण करने लगा। मुर्दा उठ कर वापिस गिरगया। फिर योगी ने पुछा कि तूँभी कुछ मत्र जानता है।

उसने फिर इन्कार कर दिया थोडी देर बाद मुर्दा उठा और उठकर योगी को तेल के कडाव में डाल दिया। उस योगी का सुवण (सोने) का पुरूष सिद्ध हो गया। उस सुवर्ण पुरुष को लेकर श्रेष्ठी पुत्र अपने घर गया सुखी हो गया। और धर्म ध्यान करने लगा। हमेशा नवकार महा मत्र का जाप करता था।

इस महामत्र के ऐसे कितने ही अनुभव उदाहरण हैं। श्री मती के नवकार का एक पद उच्चारण करने से सर्प की पुष्प माला हो गई थी।

हुण्डक नाम का चोर के सुली का सिंहासन हो गया था। कहां तक कहा जाय इसकी महिमा का वर्णन करने में मेरे जैसी पामर की रसना असमर्थ है। इसकी महिमा का पार नही है। सागर से भी गंभीर है सो ऐसे नमस्कारके फल को समझना आवश्यक है। और इसका स्मरणकरना भी आवश्यक है। महानुभावो को सोचना चाहिये कि धर्म क्या वस्तु है?

किसने बतलाया है? तीर्थङ्करदेवो ने बतलाया है। तीर्थङ्कर किसे कहते हैं जिन किसे कहते हैं, वीतराग किसे कहते हैं अरिहन्त किसे कहते हैं इस पर दीर्घ दृष्टि से ध्यान दीजिये और देखिये समझिये। श्रावक किसे कहते हैं, श्रावको का क्या कर्त्तव्य है, साधु किसे कहते हैं और साधुओ का क्या आचार है, सो ध्यान दीजिये और धर्म के मर्म को अच्छी

प्रकार से समझिये सोचिये और इस धर्म का पालन करिये आत्मा के कल्याण का यह मार्ग है।

धर्म का प्रभाव बतलाते हैं

वने रणे शत्रु जलाग्नि मध्ये ।
महार्णवे पर्वत मस्तकेवा ॥
सुप्त प्रमत्त विषमस्थितवा ।
रक्षति पुण्यानि पुरा कृतानि ॥ १ ॥

पुन–धर्मेण कुल प्रसूती धर्मेणच दिव्यरूप सम्पत्ति ।
धर्मेण धन समृद्धि धर्मेण विस्तरा कीर्ति ॥ २ ॥

अर्थ–वन में, रण में, (संग्राम) में शत्रुओं के मध्य में अथवा पर्वत के मस्तक पर सोते हुवे, बैठते हुए सब स्थानो पर धर्म से ही प्राणी की रक्षा होती है। धर्म से अच्छे कुल में जन्म लेता है, और सुन्दर, रूप, धन सम्पत्ति मिलती है। धर्म से ही समृद्धि प्राप्त होती है और यश रूपी कीर्ति सर्व दिशाओ में फैल जाती है। यह सब धर्म ही की महिमा है।

जिज्ञासुओं को पूर्णतया उपरोक्त सर्व बातें समझने की हैं ।

विचारने का है कि हमारा धर्म क्या है ? हमारा धर्म जैन धर्म है। महानुभावो को जानने का है कि जैन किसे कहते

उसने फिर इन्कार कर दिया थोड़ी देर वाद मुर्दा उठा और उठकर योगी को तेल के कड़ाव में डाल दिया। उस योगी का सुवर्ण (सोने) का पुरूष सिद्ध हो गया। उस सुवर्ण पुरूष को लेकर श्रेष्टी पुत्र अपने घर गया सुखी हो गया। और धर्म ध्यान करने लगा। हमेशा नवकार महा मंत्र का जाप करता था।

इस महामंत्र के ऐसे कितने ही अनुभव उदाहरण हैं। श्री मती के नवकार का एक पद उच्चारण करने से सप की पुष्प माला हो गई थी।

हुण्डक नाम का चोर के सुली का सिंहासन हो गया था। कहां तक कहा जाय इसकी महिमा का वर्णन करने में मेरे जैसी पामर की रसना असमर्थ है। इसकी महिमा का पार नही है। सागर से भी गंभीर है सो ऐसे नमस्कारके फल को समझना आवश्यक है। और इसका स्मरणकरना भी आवश्यक है। महानुभावो को सोचना चाहिये कि धर्म क्या वस्तु है?

किसने वतलाया है? तीथङ्करदेवो ने वतलाया है। तीथङ्कर किसे कहते हैं जिन किसे कहते हैं, वीतराग किसे कहते हैं अरिहन्त किसे कहते हैं इस पर दीर्घ दृष्टि से ध्यान दीजिये और देखिये समझिये। श्रावक किसे कहते हैं, श्रावको का क्या कर्त्तव्य है, साधु किसे कहते हैं और साधुओ का क्या आचार है सो ध्यान दीजिये और धर्म के मर्म को अच्छी

प्रकार से समझिये सोचिये और इस धर्म का पालन करिये आत्मा के कल्याण का यह मार्ग है।

धर्म का प्रभाव वतलाते हैं

वने रणे शत्रु जलाग्नि मध्ये ।
महार्णवे पर्वत मस्तकेवा ॥
सुप्त प्रमत्त विपमस्थितवा ।
रक्षति पुण्यानि पुरा कृतानि ॥ १ ॥

पुन -धर्मेण कुल प्रसूती धर्मेणच दिव्यरूप सम्पत्ति ।
धर्मेण धन समृद्धि धर्मेण विस्तरा कीर्ति ॥ २ ॥

अर्थ -वन में, रण में, (सग्राम) में शत्रुओ के मध्य में अथवा पर्वत के मस्तक पर सोते हुवे, वैठते हुए सव स्थानो पर धर्म से ही प्राणी की रक्षा होती है। धर्म से अच्छे कुल में जन्म लेता है और सुन्दर, रूप, धन सम्पत्ति मिलती है। धर्म से ही समृद्धि प्राप्त होती है, और यश रूपी कीर्ति सर्व दिशाओ में फैल जाती है। यह सव धर्म ही की महिमा है।

जिज्ञासुओ को पूर्णतया उपरोक्त सर्व वातें समझने की हैं।

विचारने का है कि हमारा धर्म क्या है? हमारा धर्म जैन धर्म है। महानुभावो को जानने का है कि जैन किसे कहते

हैं। ध्यान से श्रवण कर। जैन शब्द का अर्थ यह है। जिनेश्वर देव को मानने वाले। जो जिन को मानता है, जिन की भक्ति करता है। जिनेन्द्र की भक्ति करता है। जिनराज की आज्ञा शिरोधार्य करता है, और उन्हो की आज्ञानुसार चलता है वही जैन कहलाता है। अगर आप लोग 'शंकाकरेंने कि जिन कौन हैं और जिन क्यो कर कहलाये हैं। इसका प्रत्युत्तर है– जिन का अर्थ है जीतने वाला। प्रश्न –किसको जीतने वाला। कृतृम शत्रुओ को जीते। जिसमें किसी प्रकार का लडाई दगा आदि कर के मनुष्यों को हनन करके व सरकार द्वारा मुकद्दमा आदि करके किसी को पराजित करना आदि कार्य तो बहुत ही सरल है। परंतु इस प्राणी का असली शत्रुओ को जीतने वाला ही जिन कहलाता हैं। क्रोध मान माया, लोभ इन शत्रुओ पर विजय पाना ही दुश्वार है। इन चारो में सब से बलवान लोभ है। कहा है –

लोभात्क्रोध प्रभवति लोभात्काम प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभ पापस्य कारणम्॥

अर्थ –लोभ से ही क्रोध उत्पन्न होता है। लोभ से ही काम जाग्रत होता है, लोभ से ही मोह (अज्ञान) होता है और लोभ ही पाप का कारण है। और भी कहा है—

कोहो पीइ पणलासेइ माणो विणय नाशणो।
मायामिताणी ना सेई लोभो सव्व विणासणो॥

अर्थ —क्रोध से प्रीति का नाश होता है। मान से विनय गुण नष्ट होता है। माया से मित्रता का नाश होता है और लोभ सभी सद्‌गुणो का नाश कर देता है। इन शत्रुओ को जीतने वाले ही जिन कहलाते हैं इन बलवान रिपुओ को किस प्रकार से जीता जा सकता है। देखिये क्षमा से क्रोध को मारे नम्रता से अभिमान को जीते सरलता से माया का नाश करे, और सन्तोष से लोभ को अपने वश मे करलेवें। इन्ही चार कपायो के कारण राग द्वेष पैदा होते हैं। और राग द्वेष ही आत्मा के गुणो को नष्ट करने वाले खास शत्रु हैं। इन्हीं को जीतना कठिन है, जिन महा पुरुषो ने इनको जीत लिया है वही जिन कहलाते हैं उन्ही का नाम जिन है। और जो इनकी आज्ञा को सिर पर धारण कर लेता है वह जैन कहलाता है व श्रावक भी कहलाता है।

श्रावको को अपने कर्त्तव्य देखने चाहिए कि हमारे कर्त्तव्य क्या है। और हमको प्रतिदिन क्या करना चाहिये। और इस आत्मा के मुख्य शत्रुओ को जीतने से कितना आनन्द आता है। और क्या क्या लाभ प्राप्त होते हैं उसकी ओर ध्यान लगाना चाहिये।

इन शत्रुओ को जीतने वाला किसी दिन पात्र बन जाता है। नीतिकारो ने कहा है —

श्लोक --विद्या ददाति विनय विनयाद्याति पात्रताम्॥
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं तत सुखम्॥

विद्या पढने से मनुष्य नम्र वन जाता है, नम्रता से पात्र (योग्य) वनता है। योग्यता से धन मिलता है, धन से धर्म प्राप्त हो सकता है। धर्म से सब प्रकार के सुख प्राप्त हो सकते हैं।

इसलिये सवो से मेरी प्रार्थना है कि अपनी आत्मा के जो शत्रु हैं, उन सर्वो को खोज करके, आत्म रूपी घर से उन्हें निकाल देना चाहिए। आज के जमाने मे हम देखते हैं, तो पिता पुत्र के झगडे, भाई भाई की लडाईयें सास बहू में खटपट, गरज़ के प्रत्येक के घर में ऐसे कलह चलते हैं कि जिनका वणन करना ही असम्भव है। एक दूसरे को मारने के लिये तैयार हो जाते हैं। भाई भाई का शत्रु वन जाता है, अपने वडों का भी खयाल नही करता कि मैं अपने वडों के सामने कैसे वोल रहा हू मुझे अपने से वड़ों के समक्ष विनय से बोलना चाहिये और जो अपने से छोटा हो उससे प्रेम करना ही चाहिये। जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी के लघु भ्राता श्री लक्ष्मणजी आदि से किस प्रकार का प्रेम था सो इसको सर्व जानते हैं कि जिस वक्त भगवान श्री रामजी वन में पिता की आज्ञा के पालन हेतु गये थे तव श्री लक्ष्मणजी ने भी वडे भ्राता का साथ नही छोडा और वन में रहते हुए भी अपने भाई व भोजाई की विनय माव से सेवा करते रहे थे। ऐसा स्नेह आज कल के समय मे होना महान दुष्कर है। आज कल तो साधु महात्माओं का भी यही हाल है। लडाई झगडे व राग द्वेष चलते हैं। इसका मुख्य कारण देखा जाय तो यही सार है कि अन्याय से कमाया

हुआ अन्न उनके पेट में पड़ा है। और गृहस्थ भी अनीति से व्यापार व वाहर का व्यापार करते रहते हैं।

किसीने कहा है कि –

जैसा खावे धान, वैसी आवे ज्ञान।
जैसा पीवे पाणी, वैसी बोले वाणी॥

इसी कहावत के अनुसार काय होता ही रहता है। परन्तु जो वीतराग देवाधिदेव की आज्ञानुसार चलते हैं व उनकी आज्ञा का पालन करते हैं और उन्ही के वतलाये हुए मार्ग पर चलते हैं तो वे ही भव्य आत्मा इन शत्रुओं को खोज लेते हैं और फिर इनको अपनी आत्मा रूपी घर से निकाल देते हैं फिर कभी इन शत्रुओं को अपने घर में प्रवेश नही होने देते। वे हमेशा इन शत्रुओं से सावधान रहते हैं। जैसे धनवान अपने धन की रक्षा हेतु सावधान रहता है। इसी प्रकार जिज्ञासुओ को भी इन बलवान शत्रुओं से तीनो रत्नो की रक्षा करनी चाहिये। ज्ञान दर्शन चारित्र यह है तीनो रत्न। आत्मा को सहायता पहुचाने वाले तो ये ही धन हैं। इसलिये उपरोक्त शत्रुओ से अपने आपको वचाओ।

अव आगे वतलाते हैं कि असली शत्रु कौन हैं और इनसे क्या पैदा होता है।

इस आत्मा के शत्रु और भी है राग और द्वेष है। वाहर के कल्पित शत्रु इन्ही के कारण पैदा होते है।

राग किसे कहते है ? मन पसन्द वस्तुओं पर मोह। द्वेष क्या है ? नापसन्द वस्तु पर नफरत। यह राग और द्वेष दोनो साथ रहते है। राग और द्वेष असल शत्रु क्यों है ? यह शत्रु इसलिए हैं कि ये हमें अत्यन्त दुःख देते है। और हमारा नैतिक पतन करते है। हमारी आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति नही होने देते। राग के कारण माया और लोभ उत्पन्न होते है। और द्वेष के कारण क्रोध, लोभ उत्पन्न होते है। क्रोध, मान माया और लोभ को जीतने वाला ही सच्चा जिन है।

राग और द्वेष से बिलकुल रहित है। इसलिए उसका नाम वीतराग भी है। राग और द्वेष रूपी शत्रुओ का हनन करने वाले को अरिहन्त भी कहते है। अरि शत्रु हन्त-नाश करने वाला। जिनको कोई "अहन्त" भी कहते है। अर्हन्त का अर्थ योग्य है। किस बात के योग्य ? पूज्य, पूजा करने के योग्य। जो महापुरुष राग द्वेष को जीत कर जिन हो जाते है। वह ससार के मनुष्यो के पूजने योग्य हो जाते है। वह अहन्त कहलाते है। उनके बताये हुए सत्य पथ पर अपने को चलना चाहिये।

जिन को भगवान भी कहते है। और भगवान का अथ है ज्ञान वाला। राग द्वेष को पूण रूप से नष्ट करने के बाद केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। केवल ज्ञान के द्वारा जिन भगवान तीनो लोक और तीनो काल की सब बातो को सुर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट रूप से जान लेते है। जिन भगवान को परमात्मा भी कहते है। परमात्मा का अर्थ है परम-शुद्ध

आत्मा। राग द्वेष को नष्ट करने के बाद ही आत्मा शुद्ध होती है। और परमात्मा बनता है।

卐 देव 卐

जैन धर्म क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी संसारी देवताओं को अपना देवता व इष्ट नही मानते है। भला जो स्वय काम, क्रोध आदि के विकारो में फँसे पडे हैं वे दूसरो के विकार रहित होने के लिये क्या आदर्श हो सकते है।

इसलिये जैन धम मे सच्चे देव वे ही देव माने गये है जो राग द्वेष जीतने वाले हों और कम रूपी शत्रुओ को नष्ट करने वाले हो तीनो लोक के पूज्य हो, केवल ज्ञान वाले हो और परम शुद्ध आत्मा हो। आप प्रश्न कर सकते हो—

ऐसे राग और द्वेष को जीतने वाले कौन जिन भगवान हुए है ? तो उत्तर मे कहा जाता है, कि एक दो नहीं अनेक हो गये हैं। जानकारी के लिये प्रसिद्ध नाम सक्षिप्त में बताये जाते है।

वर्तमान समय मे सब से पहिले जिन ऋषभदेव भगवान हुए। भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध साकेत नगरी के राजा थे। आपने न्याय नीति के साथ प्रजा का पालन किया और फिर संसार से विमुख हो कर मुनिराज बने और राग द्वेष को क्षय करके परमात्मा हो गये। मोक्ष मे पधार गये।

भगवान नेमिनाथ व पार्श्वनाथ, और भगवान महावीर स्वामी भी जिन भगवान थे। यह महापुरुष थे। जिन्होंने राग द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया था। केवल ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। अपने अपने समय में इन्होंने जनता मे अहिंसा और सत्य की प्राण प्रतिष्ठा की और राग द्वेष पर विजय पाने के लिये सच्चे आत्म धर्म का उपदेश देकर, आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग प्रशस्त किया।





गुरु

मनुष्यों के हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला है, वह कौन होता है ? उसको आप पहिचानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वाक्य (गुरु) की तर्फ आपका लक्ष नहीं गया है। इस पर आओ विचार विनिमय करें।

मनुष्य के हृदय का अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने वाले, और ज्ञान रूपी प्रकाश को प्रगट करने वाले गुरु जन ही तो होते हैं। देव गुरु के विना दुनिया के भोग विलासो मे भूले हुए प्राणियों को कौन सतमाग वता सकता है। ज्ञान के चक्षु गुरु ही देते हैं।

तुम वता सकते हो गुरु कौन है? सच्चे गुरु के क्या लक्षण है? जैन धम मे गुरु किसे कहते हैं? जैनशास्त्रो मे गुरु का महत्व वहुत वडा है। परन्तु वह सच्चे गुरु का है। धम अन्ध श्रद्धालु नहीं है। जो हर किसी दुनियादारी के भोग विलासी आदमी को गुरु मान कर पूजने लगे, यहा गुणों की पूजा करते हैं। शरीर और भेप की पूजा नही। तो जैन धम मे वही त्यागी आत्माऐं गुरु मानी जाती है। जो कनक कामिनी के त्यागी हो और हरेक प्रकार के प्रपञ्चो से रहित्त हो और अहिंसा, सत्य आदि का स्वय आचरण करते हो और उनके विना किसी लोभ लालच के जन कल्याण की भावना से उपदेश देते हो, गुरु वही है जो जिन भगवान के द्वारा प्ररूपित्त शास्त्रो मे वताये हुए आत्मा से परमात्मा वनने का आदश सामने रख कर अपने विशुद्ध आचरण तथा ज्ञान से उस आदश को प्राप्त करना चाहता हो। धम में त्याग का महत्व है। भोग विलासो को त्याग कर आध्यात्मिक साधना की आराधना करना ही यहा श्रेष्ठ जीवन का लक्षण है। यही कारण है कि जैन साधुओ का तपश्चर्या की दृष्टि से वडा ही कठोर जीवन होता है।

चाहे वह उपवास आदि तप न करे तो भी उनकी तपश्चर्या कठिन ही होती है। क्यो कि जैन साधु कडी से कडी शरदी पडने पर भी आग से नहीं तपते। प्यास के मारे कण्ठ सूख जाने पर भी सचित (कच्चा) पानी नही पीते। चाहे कितनी भी जोर की भूख लगी हो परन्तु फल आदि कच्ची सब्जी नही खाते। अग्नि व हरी सब्जी का स्पश भी नही करते। बूढे हो अथवा बालक हो, परन्तु पैदल ही चलते हैं। कोई भी सवारी काम में नही लेते। पाँवो की रक्षार्थ जूते आदि नही पहनते। घूप आदि से कष्ट होने पर भी छाते आदि को काम में नही लेते। पूण ब्रह्मचय का पालन तत्परता से करते हैं। साधु स्त्री का स्पश नही करते हैं। और साध्वियें पुरुषो से स्पर्श नही करती है। और किसी प्रकार का परिग्रह, धन व वस्त्र आदि को नही रखते हैं। जैन साधुओं के लिये पाच महाव्रत बतलाये है। जो प्रत्येक साधु को चाहे वह बडा हो या छोटा। सब को अवश्य पालन करने होते है।

१ अहिंसा—मन, वचन और शरीर से किसी प्रकार से किसी भी जीव की हिसा नहीं करना, नही करवाना और करने वाले का भी अनुमोदन नही करना।

२ सत्य—मन वचन, काया से झूठ नहीं बोलना। न किसीसे झूठ बुलवाना। न बोलने वालो को अनुमोदन करना।

३ अचौर्य—मन, वचन शरीर से चोरी नही करना। नही

चोरी करवाना। नही चोरी करने वाले को अनुमोदन करना।

४ ब्रह्मचर्य–मन से वचन से व शरीर से मैथुन सेवन नही करना व नही करवाना। न करने वालो को अनुमोदन करना।

५ अपरिग्रह–मन वचन काया से धन आदि का परिग्रह नही रखना व नहो रखवाना। न रखने वालो को अनुमोदन करना।

जैन साधु का जीवन तप और त्याग का इतना कठोर जीवन है कि आज इनके जैसे कोई दूसरे साधु नहीं होंगे। ऐसे साधुओ को ही गुरु माने जाते हैं।





धर्म

गुरु का महात्म्य वतलाया। अव धर्म का महात्म्य वतलाते है कि धम का अर्थ क्या है? जो दुःख से दुर्गति से, पापाचार से और पतन से वचाकर आत्मा को ऊँचा उठाने वाला है वह धर्म है। और सच्चा धर्म कौनसा होता है कि किसी आत्मा को दुःख नही पहुचाना। ऐसा अच्छा विचार और अच्छा आचार है। वही सच्चा धम है।

जैन धर्म मे दया का वडा महत्व है। और स्याद्वाद को भी जैन धर्म मानता है। स्याद्वाद का अर्थ है पक्षपात रहित सम्भाव का समर्थन करने से जैन धर्म स्याद्वाद धर्म है। और अहन्त भगवान का वताया हुवा है। इसलिये इसको अर्हत धर्म भी कहते है। इस धर्म का कोई भी भव्यात्मा पालन कर सकता है। जैन धर्म मे जाति और देश का वन्धन नही है। किसी भी जाति का मनुष्य हो। और किसी भी देश का हो वह इस जैन धर्म का पालन कर सकता है। हिन्दू हो, मुसलमान हो ब्राह्मण हो या अन्य जाति का हो जो इसका पालन करे वही जैन है।

इस जैन धर्म के दो भेद हैं (१) श्रावक धर्म और (२) साधु धर्म। साधुओ के पाच महाव्रत होते हैं। जो आगे

वतला दिये हैं। और श्रावक के वारह व्रत होते हैं। वह वतलाते हैं। ध्यान पूवक सुनिये और ध्यान मे रखिये।

पहले-स्थूल प्रणाति पास वीर मण व्रत इसका अर्थ है। किसी प्राणी मात्र की हिन्सा नहीं करना। वैसे तो सूक्ष्मता से गृहस्थो से हिन्सा का त्याग नही होता है क्यो कि उनको आरम्भ, समारम्भ, व्यापार आदि करना पडता हैं। उस काम मे उनको हिन्सा का पाप लगता है। परन्तु स्थूल रीति से सूक्ष्मता से नही प्राणों के अतिपात यानी नाश के त्याग का व्रत लेता ह। ससार मे जाव स्थावर और त्रस दो प्रकार के हैं। दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जीव है। इन जीवो की हिन्सा नही करने का यह व्रत है। परन्तु ससार में गृहस्थाश्रम में रहा हुआ मनुष्य सर्वथा हिन्सा से कैसे वच सकता है ? इसलिये गृहस्थ स्थूलव्रत लेता है। अर्थात् व्रत भङ्ग न हो। इसलिये वह अवकाश रख लेते हैं।

मेरा व्रत स्थूल दृष्टि से है। सूक्ष्मता से नही। यह पहला व्रत संक्षेप मे दिखाया है। परन्तु इसका विस्तार नही किया। अब दूसरे व्रत पर वर्णन।

दूसरा अणुव्रत है—स्थूल मृषावाद वीरमण व्रत (वाणी का महत्व) प्रथम तो विचार करने योग्य है कि, वाणी की क्या कीमत है ? वाणी मनुष्य के जीवन की कीमत से एव दुनिया की किसी भी वहुमूल्य वस्तु से ज्यादा कीमती है। इससे वढ कर और इसकी तारीफ क्या हो सकती है। वाणी के आठ गुण।

महुण निउण थोव कज्ञावडियम गव्वियमतुच्छ ।
पुव्वमइ सकलिय मणन्तिज धम्म सजुत ॥

अर्थ -भाषा मधुर वोलो, खराव वचन कभी नही वोलो। खराव वचनो का असर वडा बुरा होता है। अपने मे अभिमान लाकर कटु वचन किसी व्यक्ति को कहदे उसका असर अच्छा कैसे होगा ? ऐसा कभी नही हो सकता, अभिमान शास्त्रो के विरुद्ध चीज है।

निपुण–चातुर्य–भरा हुआ वचन वोलो। जितना वोलने की जरूरत हो उतना ही वोलो। ज्यादा वोलने से (वकवास) करने से क्या फायदा।

तुच्छ वचन भी कभी नही वोलना चाहिए। इसका भी सुनने वालो पर वडा बुरा प्रभाव पडता है। और वाल वच्चों पर तो इसका अहितकारी असर व बुरा प्रभाव पडता है।

जरूरत पडने पर ही वोलना अन्यथा मौन रहना। और धर्मयुक्त वचन वोलना। अपने मुँह से अधर्म का कोई शव्द न निकले। क्रोध में आकर या तामसिक वृत्ति में आकर अधर्मी वाणी निकालना हमारे लिये अहितकारी है। ऐसे विना सोच विचार कर कटु वचन वोलने से महा पातक है। हम घोर कर्म उपार्जन कर लेते हैं। इसलिये इन सव वातों को ध्यान में रखना चाहिये। इन सर्व वातों को लक्ष मे लाने से, ससार मे रहते हुए प्राणी भी इस दूसरे व्रत का पालन कर सकता है।

अब इस व्रत का और भी क्या परमार्थ है। वह अब मैं बतलाऊँ। झूठ यह सब से बडा पाप है। गृहस्थ आश्रम में रहा हुआ मनुष्य यह समझता है, कि झूठ के सिवाय व्यापार कैसे करना, बच्चों का भरण-पोषण कैसे करें। और संसार का व्यवहार कैसे चलावेंगे। परन्तु यह बात बिलकुल गलत है।

क्योंकि जिन्होंने आजन्म से सिवाय छल कपट प्रपञ्च आदि के कोई दूसरी बात नहीं की और अपनी जीवनवृत्ति इसी प्रकार से व्यतीत करते हैं उन कायर पुरुषो के मनमें यह बातें रहती हैं। मनुष्य के मन से झूठ का भय मिट जाता है, तो वह सारे पापो को बिना डर के करने लगता है। और जिसको मिथ्या भाषा का भाष्य का भय होता है तो वह पाप करके भी कभी सत्य ही बोल जाता है। दूसरे पापो से भी झूठ का पाप अधिक होता है। देखिये भंगीन ने जमीन साफ क्यो की यह शास्त्रीय लेख है।

ध्यान से सुनिये एक मातङ्गी (भङ्गीन) रास्ते में एक मनुष्य की खोपडी में मास को लिये हुए जा रही थी। मांस खाने की उसकी आदत थी। थोडी दूर जाकर एकान्त में जगह पसन्द की। और जमीन साफ की, पानी छिटका और फिर अपना कपडा बिछा कर बैठ गई। एक सज्जन जो उधर से जा रहे थे, उसने उस मातङ्गी को देखा उसकी हरकतें देखी और उनको बडा आश्चर्य हुआ। उसके पास जाकर बोले, अरे मातङ्गी तू स्वय मास खाने वाली। हल्के (तुच्छ) आचरण वाली है

कोई तेरा धर्म कर्म नहीं, तेरा सारा शरीर ही अपवित्र दिख रहा है। और तेरे पर मक्खिया भिनभिना रही हैं। एक मनुष्य की खोपड़ी में मास लिए बैठी है। इतना होते हुए भी तूने बैठने की जगह साफ की उसे पानी से छिटका और कपड़ा बिछा कर बैठी। कहा तेरी अशुद्धता और कहा तेरा यह दखावा। शुद्धता का ढो ग! यह क्या बात है।

तब मातङ्गी कहती है -हे महाराज आपका कहना ठीक है। लेकिन इस भूमि पर से झूठ बोलने वाले कृतघ्नी अनेको पापी निकले होंगे यह भूमि उनके स्पर्श से अपवित्र हो गई थी।

इसलिये इसको शुद्ध करके बैठी। मैं भी अपवित्र मैं भी जरूर पापी हू। लेकिन असत्य बोलने वाले मेरे से भी ज्यादा पापी, अपवित्र एवं हल्के हैं। इसलिये इस जगह को साफ करके बैठी हूं।

सज्जनों यह शास्त्र का उदाहरण है। झूठ बोलने वालो को शास्त्रकारो ने घोर पापी कहा है। मातङ्गी के पापो से भी उसका पाप अधिक है। चाहे जितने उच्च कुल मे पैदा हुए हो। परन्तु झूठ बोलने वाला ससार को धोखा देने का प्रयत्न करेगा। और नाना प्रकार के छल कपट प्रपञ्च करेगा। धार्मिक कृत्यो में भी उसके आचरण पवित्र नहीं होंगे। क्यो कि हर किसी पाप को वह झूठ की चद्दर के नीचे छिपाने का हौंसला रखता है।

सज्जनो यह घोर पाप है । शास्त्रकारों ने झूठ की बड़ी निन्दा की है । आपको झूठ से बचना हो तो उपर्युक्त नियमों का पालन करें । और आत्म कल्याण करने मे तत्पर हो जावें ।

अब तृतीय व्रत का उल्लेख किया जाता है-तीसरे स्थूल अदत्तादान वीरमणव्रत यानि चोरी नहीं करना दूसरो की वस्तु विना आज्ञा लेना नहीं । वचन से चोरी करवाना नहीं । खुद भी करना नहीं । और करने वाले को अनुमोदना करना नहीं ।

स्थूल चोरी का स्वरूप तो यह है । किसी की वस्तु आज्ञा विना उठालेना । घर मे से या दुकान में से । या उसके खेत खलियानो में से वस्तु लेलेना अथवा व्यापार आदि करने में लेते समय अधिक माल लेलेना और देते हुए कम देना । तराजू की डण्डी को चढा देना । नई पुरानी वस्तुओ का भेल समेल करना । सस्ते भाव का माल लेकर मँहगा वेचना इस तरह चोरियें बहुत ही प्रकार की होती हैं । चोरी के माल को खरीदने से भी एक प्रकार की चोरी ही होती है । डाक्टर, वैद्यों की सभ्यता के पर्दे में होने वाली चोरियो का बहुत मनुष्यो को अनुभव है । इसलिये इस व्रत का पालन करने वालो को इन बातो पर ध्यान अवश्य देने का है । और इस चोरी के पाप से बचना चाहिये । और सावधानी से अपने व्रत का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिये । व्रत पालने से ही आत्मा का कल्याण होता है ।

चौथा व्रत है-चौथा स्थूल मैथुन वीरमणव्रत। इसमें ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना चाहिए-स्व स्त्री में ही सन्तोष करना चाहिये। नीति मे कहा है —

श्लोक-मातृवत्परदारेषु पर द्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्व भूतेषु य पश्यति स पडित ॥

अर्थ—कहा है कि जो मनुष्य दूसरे की स्त्री को अपनी माता समझे और दूसरे के द्रव्य को मिट्टी का ढेला समझे, और प्राणी मात्र को अपनी आत्मा के समान समझे वही सच्चा पण्डित है।

इसलिये मनुष्यो को अवश्य ही ब्रह्मचय का पालन करना ही श्रेष्ठ है। चाहे स्त्र हो या पुरुष हो। परन्तु ध्यान रखने का है कि काम की अभिलाषा से अपना हाव, भाव रूप दिखाना, खराब वचन बोलना, और कङ्कर आदि फेंक कर अपना होना ज्ञात करवाना। एकान्त मे बैठ कर स्त्री हो या पुरुष से वार्तालाप करना। ये व्रत भङ्ग करने के लक्षण हैं।

हितोपदेश में कहा है —

घृतकुम्भसमानारी तप्ताङ्गारसम पुमान्।
तस्माद् घृतञ्च वाहीञ्च नैकत्रस्थापयेद् बुध ॥

अर्थ —स्त्री घृत के घडे के समान होती है, और पुरुष तपे हुए अङ्गारे के समान है। इसलिये बुद्धिमान को चाहिये कि घी और अङ्गारे को एक साथ नही रखें।

चाहे माता हो चाहे बहिन तथा अपनी लडकी के साथ भी कभी एकान्त में नही बैठना चाहिये। क्यो कि इन्द्रिया बडी बलवान होती हैं। विद्वानो को अपने वश में कर लेती है। इस व्रत का पालन करने से महान् लाभ होता है। और जो अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है। उस आत्मा की देवता भी सेवा करते हैं। सर्व व्रतो मे चौथा व्रत मुख्य माना गया है। सो अवश्य इस व्रत का पालन करियेगा व आत्मा की उन्नति करियेगा।

अब पाँचमा व्रत बतलाते हैं —इस व्रत में परिग्रह का परिमाण दिखाते हैं। परिग्रह का परिमाण जैसे—सोना, चाँदी, धन, माल, मिल्कियत, मकान, दास, दासी, नौकर आदि। गाय, भैंस घोडे आदि व्यापार करना। इतने प्रमाण में धन रखना अधिक होवे उसका त्याग करना। ऐसे करने से परिग्रह का दोष नहीं लगता है। जितना रखे उतना ही लगता है। इसलिये अवश्य इसका त्याग करना चाहिये और पाप से बचना चाहिये। मानव जीवन को सफल करना चाहिये। इस पर पूर्णतया ध्यान लगाना। और दीर्घ दृष्टि से देखिये यह पाचवां व्रत है। स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत यह परिग्रह शब्द कैसा है? जिसको इसका ग्रह लगा है वही बतला सकता है। वैसे साधारण ग्रह लगने वाले को जो अनुभव नहीं होता है, उससे ज्यादा इस

ग्रह के लगने से अनुभव होता है। यह सब ग्रहो मे बडा ग्रह है। चारो तरफ से यह ग्रह लगता है।

आत्मा को मुरझादेने वाला, आत्मा का पतन करने वाला अगर कोई है तो मात्र परिग्रह है। इस परिग्रह का परिमाण मर्यादा करके आप निश्चिंत हो। यह आप गृहस्थो के लिये अत्यावश्यक है। ससार में रहते हुए
जरूरत है यह मानने योग्य है
इसकी जरूरत मात्र एक
होना भी चाहिये। लेकिन
साध्य हो जाता है, तब उस
किये जाते हैं।

इस पापाचार को
व्रत बतलाया गया है।
लोग जितना परिग्रह का
का लाभ दूसरो को मिले
मनोवृत्तियाँ आपकी अ
कोई सीमा ही नही रहती
से आगे नही बढेगी।
को भूल जाते हैं। दया,
बढ जा

अब छठ्ठा व्रत बतलाया जाता है -छठ्ठाव्रत है दिग् परिमाण व्रत-दिग् परिमाण का मतलव है दिशाओ में जाने आने का परिमाण कर लेना। अर्थात् पर्व पश्चिम, उत्तर और दक्षिण यह चार दिशाऐं। अग्नि नैऋत्य वायव्य और ईशान यह चार विदिशाएँ और ऊर्ध्व दिशा तथा अधो दिशा इनदश दिशाओ में जाने आने का नियम कर लेना चाहिये।

अर्थात् -पूर्व दिशा मे मैं इतने मील जाऊँगा और पश्चिम में इतने मील जाऊँगा।

दिशाओ का परिमाण क्यो ?

आपको आश्चर्य होगा कि भगवान ने यह दिशाओं का परिमाण क्यों बतलाया ? इसमें ऐसी कौनसी वात है ? इसका मतलव यह है कि इन दिशाओ का परिमाण का सम्बन्ध परिग्रह परिमाण व्रत से है। सो इसकी मर्यादा करलेने से पाप से वच सकें, और धर्म में आगे वढ सकें। और आत्म साधन कर सकें।

सातवा व्रत--अब सातवा व्रत है भोगोपभोग वीर मण व्रत। ससार की सब वस्तुएँ शास्त्रकारो ने भोग और उपभोग नामक दो विभागो में विभक्त करदी है। भोगोपभोग क्या है ? भोग की वस्तुऐं वे हैं जो एक वक्त काम में आती है, जैसे भोजन आदि। और उपभोग की वस्तुऐं वे हैं जो बार बार काम में आती हैं। जैसे मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

ग्रह के लगने से अनुभव होता है। यह सब ग्रहो में वडा ग्रह है। चारो तरफ से यह ग्रह लगता है।

आत्मा को मुरझादेने वाला, आत्मा का पतन करने वाला अगर कोई है तो मात्र परिग्रह है। इस परिग्रह का परिमाण मर्यादा करके आप निश्चित हो। यह आप गृहस्थो के लिये अत्यावश्यक है। संसार में रहते हुए आपको पैसो की जरूरत है, यह मानने योग्य है। पर जरूरत किसके लिये? इसकी जरूरत मात्र एक साधन के रूप में आपको है, और होना भी चाहिये। लेकिन जब पैसा हमारा साधन न हो कर साध्य हो जाता है, तब उस पैसे के लिये नाना प्रकार के पाप किये जाते हैं।

इस पापाचार को रोकने के लिये ही परिग्रह का परिमाण व्रत बतलाया गया है। इस व्रत में एक और खूबी है कि आप लोग जितना परिग्रह का परिमाण करलेंगे, उससे बचने वाले पैसे का लाभ दूसरो को मिलेगा। इसकी मर्यादा करलेने से जो मनोवृत्तिया आपकी आशक्ति की तरफ जाती है और आशा की कोई सीमा ही नही रहती वह रुक जायगी। परिमाण मर्यादा से आगे नही वढेगी। आशक्ति के कारण आप लोग सात्विकता को भूल जाते है। दया, दान परोपकार को भूल जाते है। मोह वढ जाता है। नाम और यश की भूख आपको अत्यन्त सताने लगती है। इसलिये ९ नव प्रकार के परिग्रह का परिमाण करना चाहिये और आत्म कल्याण करना चाहिए।

अब छट्ठा व्रत बतलाया जाता है –छट्ठाव्रत है दिग्-परिमाण व्रत–दिग् परिमाण का मतलब है दिशाओ में जाने आने का परिमाण कर लेना। अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण यह चार दिशाएँ। अग्नि, नैऋत्य वायव्य और ईशान यह चार विदिशाएँ और ऊर्ध्व दिशा तथा अधो दिशा इनदश दिशाओ में जाने आने का नियम कर लेना चाहिये।

अर्थात्–पूर्व दिशा में मैं इतने मील जाऊँगा और पश्चिम में इतने मील जाऊँगा।

दिशाओं का परिमाण क्यो ?

आपको आश्चर्य होगा कि भगवान ने यह दिशाओं का परिमाण क्यों बतलाया ? इसमें ऐसी कौनसी बात है ? इसका मतलब यह है कि इन दिशाओ का परिमाण का सम्बन्ध परिग्रह परिमाण व्रत से है। सो इसकी मर्यादा करलेने से पाप से बच सकें, और धर्म में आगे बढ़ सकें। और आत्म साधन कर सकें।

सातवा व्रत–अब सातवां व्रत है भोगोपभोग वीर मण व्रत। ससार की सब वस्तुएँ शास्त्रकारो ने भोग और उपभोग नामक दो विभागो मे विभक्त करदी है। भोगोपभोग क्या है ? भोग की वस्तुऐं वे हैं जो एक वक्त काम में आती है, जैसे भोजन आदि। और उपभोग की वस्तुऐं वे हैं,जो वार वार काम में आती हैं। जैसे मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

दो प्रकार की चीजों का हमे परिमाण कर लेना चाहिए। और जितनी चीजें हमे उपभोगी हो। और जिन जिन वस्तुओं के विना हमारा काम नही चलता हो तो उतनी ही चीजें हम को रखने का निश्चय कर लेना चाहिये। जरूरत से ज्यादा चीजें हमको रखने का अधिकार नहीं है।

इसलिये खाने की चीजें व पहिनने के वस्त्र, आभूषण आदि सवो का परिमाण करना चाहिए।

चौदह नियम—

शास्त्रकारो ने सव व्रत पालने के लिये प्रतिदिन चौदह नियमो के धारने का वतलाया है।

जैसे—(१) सचित, (२) द्रव्य, (३) विगई, (४) वहाण (५) तम्बोल, (६) वत्थ, (७) कुसुमेसु, (८) वहाण (९) शयन, (१०) विलेवण, (११) बम, (१२) दिशि, (१३) नाण, (१४) भत्तेसु।

इन नियमो को धारण करने से वहुत लाभ होता है। क्यो कि जितने पदार्थ खाने के रखे हैं, उनसे अधिक नहीं खा सकते हैं। और खाने के पदार्थ भी परिमाण से जो खाये जाते हैं, उससे शरीर में किसी प्रकार की हानियें नहीं पहुचती। और शरीर निरोग रहता है। और वीमारियो का सामना नहीं करना पडता। यानी तन्दुरुस्ती रहती है।

इससे आत्मा को दो लाभ होते हैं कि एक तो अपना नियम पल जावे दूसरा शरीर स्वस्थ रहे । यह सक्षेप मे ही वताया गया है । आप लोग अवश्य ही इस व्रत का पालन करें । और मानव जीवन को सफल वनावें । यह सातवा व्रत समाप्त हुआ ।

आठवा व्रत अनथ दण्ड—अनथ दण्ड वीरमणव्रत—अनथ का मतलव है कि जिनके कारण हमें विना कारण ही दोष लगे उनका नाम है अनथ दण्ड । उसका वीरमण याने त्याग करना । विना कारण किसी जीव को कष्ट देना मारना पीटना, किसी की हँसी मजाक करना किसीको चिढाना किसीको आपस में लडादेना व लडना । और अपने पास वन्दूक वगैरा किसी प्रकार के शस्त्र पडे हैं, उससे आपने कभी हिंसा नही की है । परन्तु अपना कोई मित्र आदि अन्य पुरुष ने शस्त्र मागे लिहाज से उसको दे दिया, फिर उसने उस शस्त्र द्वारा जीवो की हिन्सा की उसके हिंसा करने पर भी आपको हिंसा करने का दोष लगा है । अहिंसक होते हुए भी हिंसा का पाप वन्ध जाता है । यह सव कारण अनर्थ दण्ड के ही है । ऐसे कामो से अपनी आत्मा को वचाना चाहिए । ऐसे पापो का फल अवश्य ही भोगना पडता है । पाप करते समय हम कुछ विचार नही करते है । जव उसके फल भोगना पडता है तव याद आता है कि हमने कौनसा पाप किया ? जिसका यह वदला हम भोगते है ।

अत आप इस अनथ दण्ड से वचें। ऐसा कार्य कभी नही करें, जिसमे सिवाय नुकशान के हमको कोई इससे फायदा नही।

अथ नवमाँ व्रत सामायिक —अव नवमाँ व्रत सामायिक— सामायिक का अथ है सममाव मे रहना। "समता सव भूतेपु। स्थावरेपु च" सामायिक क्या चीज है? अर्थात् समस्त जीवो पर एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक यावत् राजा, महाराजा, देव आदि कोई भी हो। सव जीवो पर समान दृष्टि होना, सव को अपने समान समझना, इसीका नाम सामायिक है। कितना भी कष्ट आवे या सुख आवे परन्तु मन मे राग, द्वेप की भावना नही लाना यही सामायिक का सच्चा स्वरूप है। ऐसी सामायिक आप यावज्जीव तक करेंगे। तव ही तो सव से अच्छा ही है। और इसी में आपका कल्याण है। लेकिन यह न होसके तो दिन के कम से कम ४८ अड़तालीस मिनट याने एक वक्त सम्भावना से स्थिर हो कर आपको सामायिक व्रत धारण करना चाहिये। क्योंकि यह गृहस्थों का नवमा व्रत है। इस सामायिक व्रत मे रह कर गृहस्थ दूसरी फिजूल की वातें नहीं करें। और इस व्रत में रह कर शास्त्रों का श्रवण करना, ज्ञान की चर्चा करना, स्वाध्याय करना, सद्वाचन में दो घडी व्यतीत करें तभी सच्ची सामायिक है। अत आप दिन भर में कम से कम एक सामायिक करने का तो अवश्य व्रत लें।

दशवाव्रत देशावगासिक —दशवा देशावगासिक व्रत— देशावगासिकव्रत क्या है? अमुक समय तक अमुक स्थान को

छोड कर बाहर नही जाना । और उतना समय मात्र स्वाध्याय करना । धम, ध्यान, आत्म चिन्तवना मे समय व्यतीत करना । और इसका अर्थ यह भी करते हैं कि तीन सामायिक एक आसन पर बैठ कर यानी एक स्थान पर बैठ कर करना या सब दिन में दस सामायिक करना । उपाश्रय मे जाकर सब झगड़ों को छोड कर राग द्वेष की परणती से रहित हो कर स्थिर आसन लगाकर बैठ जाना चाहिए । यही देशावगासिक व्रत का मतलब है ।

ग्यारहवा व्रत पौषध व्रत —ग्यारहवा व्रत है पौषध व्रत— आत्मा को जो पुष्ट करे उसका नाम पौषध है । और जो धर्म को पुष्ट करे उसीका नाम है पौषध—पौषध किसे कहते और वह क्या हैं ?

अन्त करण शुद्धित्व धर्मत्वम्

अन्त करण को यानी मन को शुद्ध करना । इसीका नाम धम है । शरीर की पुष्टी के लिये मनुष्य नाना प्रकार के पाक करता है । वैसे ही आत्मा की पुष्टी के लिये यह पौषध रूपी पाक शास्त्रकारों ने बतलाया है ।

उपवास करके बारह घन्टे के लिये (या) चौवीस घन्टे के लिए साधुवृत्ति को धारण करलेना । ससार के व्यापारो को और सब घर कार्यो को उतने समय के लिये बिलकुल त्याग देना । इसी का नाम है पौषध ।

कम से कम अष्टमी, चतुर्दशी आदि बडी तिथियों को तो यह व्रत अवश्य ही गृहस्थों को लेना चाहिये।

बारहवांव्रत अतिथि सविभागव्रत —बारहवां व्रत है। अतिथि सविभागव्रत सम्यक्प्रकार से अतिथियों के लिए अपनी पासकी चीजों का विभाग कर देना। अतिथियो को दान देना। अपने घर आये हुए अतिथि का सन्मान, सत्कार करना। अत त्यागी, संयमी साधुओ को दान देकर आप भोजन करें। ऐसे महात्मा पुरुषो के पात्र में आपका अन्न जाने से आपका जीवन सार्थक है। और ऐसे लोगो को भोजन देकर जीमें तभी आपका भोजन भोजन है। अन्यथा राक्षसी भोजन कहा गया है।

इस बारहवा व्रत पालन करने वाले को यह बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिये और ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि आज मैं अपने हाथो से जब तक कोई साधु मुनिराज को दान नही दू तब तक मुझे भोजन नही करना। यह प्रतिज्ञा दो प्रकार की है।

एक तो वह है कि साधु अतिथि जो वस्तु लेगा वही वस्तु मुझे खाना है, दूसरी चीजें नही। और एक है कि साधु आजावे थोडा बहुत कुछ भी ले जावे। इस प्रकार प्रतिज्ञा करना चाहिये। और अतिथि का सत्कार करना चाहिये। गृहस्थो के लिये यह बारह व्रत बतलाये हैं। यह व्रत आप लोगो को अवश्य ही लेने चाहिये। यह सब व्रत लेने में अगर आप असमर्थ हैं तो

इन में से जितने पाल सकें उतने ही लेने की भावना जरूर रखें और महावीर भगवान के सच्चे अनुयायी बनें। भूलें नही ध्यान रखे ।

अब चार कषाय कहते है

कषाय चार प्रकार के होते हैं —क्रोध, मान, माया और लोभ। जो मनुष्य अपना हित चाहते हैं वे पाप बढाने वाले क्रोध मान, माया और लोभ इन चार दोषो को सदा के लिए छोड़ देना उचित होगा। दशवे कालिक सूत्र में कहा है —

कोहो पीई पणासेई माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणिनासेई लोभो सव्व विणासणो ॥

अर्थ —क्रोध प्रीति का नाश करता है। मान विनय का नाश करता है। माया मित्रता का नाश करती है। और लोभ सभी अच्छे गुणो का नाश कर देता है।

इसलिये इन कषायो पर विजय प्राप्त करो। क्षमा से क्रोध को मारो। नम्रता से अभिमान को जीतो। सरलता से माया का नाश करना। और सन्तोष से लोभवृत्ति को वश में करो।

राग और द्वेष ये कर्म के बीज हैं। अतः कर्म का उत्पादक मोह माना गया है। संसार में जन्म मरण का मूल

कर्म है और जन्म मरण ही एक मात्र दु ख है। क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है। मान से अधम गति पाता है। माया से सद्‌गति का नाश होता है और लोभ से इस लोक व परलोक दोनों मे महान् दु ख है।

अनिगृहित क्रोध और मान बढते हुए माया और लोभ यह चारो ही कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष की जडो को सींचती रहती है। क्रोध, मान, माया और लोभ यह चारो ही अन्तर आत्मा के भयंकर शत्रु है। इनका पूर्णत त्याग करने वाला ही आत्म कल्याण कर सकता है, दूसरा नही।



ससार के जीवों की तृष्णा

हे महानुभावों! इस संसार में तृष्णा एक भयकर लता है। जिसके फल भी बडे भयकर हैं। सो कृपया इस लता को उच्छेदन करने का प्रयत्न करो। अनेक बहुमूल्य वस्तुओ से भरा हुआ यह सारा विश्व भी अगर किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाय तो भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा। अहो तृष्णा का गड्ढा पूरना दुष्कर है।

अगर कैलाश पर्वत के समान चाँदी सोने के असख्य पर्वत भी यदि पास में हो तो भी तृष्णायुक्त व्यक्ति की तृप्ति के लिये वह कुछ भी नहीं है। कारण कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है। ज्यों २ व्यापार आदि में लाभ होता है त्यों २ लोभ भी बढता जाता है। पहले जिसके पास में एक तोला भी सुवर्ण नहीं था उसकी इच्छा हुई की दो माशा सोना मेरे घर में हो जावे तो ठीक है। परन्तु जब दो माशा सुवर्ण भाग्य से मिल जावे तो फिर उसकी तृष्णा बढने लगती है कि करोडो पर जाकर के भी तृष्णा रुकती नहीं। देखिये जिसको तृष्णा नहीं है उसका मोह चला जाता है और जिसे मोह नहीं उसका दु ख भी दूर हो जाता है। और जिसको लोभ नही उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है। व जिसके पास अर्थ नही है, उसका लोभ दूर हो गया है। इस प्रकार की जो यह तृष्णा है उसको छोडदो। तृष्णा

रूपी तरंगों में मत डूबो। जिन महा पुरुषो ने इस लता को उच्छेदन कर दिया है वह आज जन्म, जरा, मरण के पजे से छूट गये हैं। और अखण्ड सुख का उन्हो ने शरण लेलिया है। इसी प्रकार अपने को भी करना चाहिये। उन्ही महा पुरुषो का अनुकरण लेना चाहिये और अनेक अनुयायी बन के उन्ही के पास अपने को पहुचाना है तो आप भी इसी प्रकार का प्रयत्न करें कि इस तृष्णा रूपी लता को जड मूल से ही उखाडदें और मानव जीवन को सार्थक बनाने की कोशिश करें। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ इन शत्रुओ को जीतने का प्रयत्न करें। समय को व्यर्थ न गमावें। इस अमूल्य समय की कीमत करें। यह मनुष्य जन्म वार वार मिलने का नही है। बडी दुष्करता से मानवभव, उत्तम कुल, जैनधर्म, आर्यक्षेत्र और पूर्ण आयु, पाचों इन्द्रियें निरोग और देव गुरु का संयोग अपने क मिला है।

नीति मे कहा है —

काव्य शास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणा निद्रया कलहेन वा ॥ १ ॥

अर्थ -बुद्धिमान मनुष्यो का समय काव्य व शास्त्र के विचार में व्यतीत होता है। परन्तु मूर्खों का समय व्यसन (बुरे काम) निद्रा तथा झगडे आदि करने में ही व्यतीत होता है। बुद्धिमानो को सोचना चाहिये कि गृहस्थ आश्रम में रह कर भी अपनी आत्मा के कल्याण के लिये कुछ समय निकाल कर आत्म साधन करें, और ज्ञानका अभ्यास करना

सीखें विवेक भी सीखें। क्यो कि जिस मनुष्य में विवेक नही है और ज्ञान नही है वह मनुष्य होते हुए भी पशु के समान ही गिना जाता है।

नीतिकारो ने कहा है —

अनेक सशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचन शास्त्र यस्यनास्त्यन्ध एव स ॥

अर्थ —सर्व प्रकार के संशय दूर करने वाला तथा परोक्ष वस्तुओ को भी प्रत्यक्ष दिखलाने वाला शास्त्र ही सब के नेत्र हैं। जिसके पास में वह ज्ञान रूपी नेत्र नही है वह मनुष्य अन्धे के समान ही है। यत पुन —

अहार निद्रा भय मैथुनश्च।
सामान्यमेतत्पशुभि नराणाम ॥
धर्मो हितेषामधिको विशेष।
धर्मेण हीना पशुभि समाना ॥

अर्थ —भोजन, नींद, भय, और मैथुन ये चार बातें तो मनुष्य और पशुओं में समान ही हैं। मनुष्य में केवल धर्म ही अधिक विशेष है। इसलिये धर्म हीन मनुष्य भी पशु के समान गिना जाता है।

अपरिग्रह का वर्णन

ससार के सब जीवों को जकड़ने वाले परिग्रह से बढ कर दूसरा कोई बधन नहीं। इसलिये महानु भावो परिग्रह का त्याग कर के अपरिग्रही बनों, जो ममत्व बुद्धि का परित्याग करते हैं। वह ममत्व का त्याग करते हैं। वस्तुत वही ससार भीरू साधक है। जिसे किसी प्रकार का ममत्व नही है।

दयालु ज्ञात पुत्र महावीर ने पदार्थों को परिग्रह नही कहा है। उन्होंने वास्तविक परिग्रह मूर्च्छा-आशक्ति को कहा है। किसी भी वस्तुओ का सग्रह करना भीतरी लोभ की झलक है। इसलिये जो साधु मर्यादा के विरूद्ध कुछ भी सग्रह करना चाहता है। वह ग्रहस्थ है, साधु नही है।

पूर्ण सयमी को धन धान्य और नौकर चाकर आदि सब प्रकार के परिगृह का त्याग करना होता है। सब पाप कर्मों का त्याग कर निममत्व होना बडी ही कठिन बात है। ज्ञानी पुरुष सयम के साधन उपकरणों के लेने में तथा रखने में किसी प्रकार का ममत्व भाव नही रखते हैं। और तो क्या अपने शरीर पर भी ममता नही रखते है। जब व्यक्ति मनुष्य सम्बन्धी तथा देव सम्बन्धी समस्त भोगों से विरक्त हो जाता है तो वह बाहर और

अन्दर के सव परिग्रह को छोड कर आत्म साधन में जुट जाता है ।

जो साधक अल्प अहारी हो व अल्प भापी, अल्प शायी, और अल्प परिग्रही होवे उसे देवता भी प्रणाम करते हैं। मुनि जन जो भी वस्त्र, पात्र, कम्वल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं वह सव एक मात्र सयम की रक्षा के निमित्त है । उनके रखने में किसी प्रकार की परिग्रही वुद्धि नही है ।

इसलिये सव भव्यात्माओ को परिग्रह का त्याग करना ही श्रेठ है । जरूरत हो उतना ही परिग्रह रखना चाहिए ।



विषयों का मीठा विष

जैसे किंपाक फल रूप, रग और रस की दृष्टि से प्रारंभ से खाते हैं। वह खाते समय तो बडे मधुर और मनोहर लगते हैं। पर बाद में जीवन के नाशक हैं। वैसे ही काम, भोग भी शुरु में बडे मीठे और मनोहर मालूम देते हैं। पर विपाक काल में वह सर्वनाश कर देते है ।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है —

यत किंपाक फलाणा, परिणामो न सुन्दरो ।
एव यत भोगाणा, परिणाम न सुन्दर ॥

अर्थ—जैसे किंपाक फलो का परिणाम अच्छा नही होता है। उसी प्रकार भोगों का परिणाम भी अच्छा नही होता है।

काम भोग शल्य होता है, विष है और विषधर सर्प के समान है। कामी मनुष्यो को लज्जा नही होती है। मर्यादा भी नही होती है। जैसे तैसे काम भोगो की प्राप्ति उसे करनी ही पडती है। प्राप्त किये विना उसे तृप्ति नही होती है।

जो आत्मा काम भोग मे आशक्त रहते है, वह प्राणी कर्मों का सञ्चय करते है और कर्मों से भारी होकर ससार परिभ्रमण करते है ।

जैसे केले के स्कन्ध में खोजने से भी कही सार नही मिलता। इसी प्रकार इन्द्रिय विषयो में भी तत्वज्ञो ने खूब खोज करके भी कही सुख नही देखा।

जो मनुष्य काम भोगो में नही फँसता, पाप कर्मों से अलग रहता है। और आत्मा को पतन से बचाता है। वही वीर है वही आत्मा का रक्षक है, और वही विद्वान तथा निपुण है। संसार के भोगो में फँसे रहने वाले लोग बार बार जन्म मरण करते रहते हैं। जो साधक भोगों की आशा आकांक्षा नहीं रखता है वह सावद्य-पाप मय प्रवृत्ति क्यों करेगा। और जो मनुष्य भोगी है-भोगासक्त है-वही कर्म मल से लिप्त है। अभोगी लिप्त नही है। भोगी ससार में भ्रमण करता है। अभोगी संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इसके लिये विशेष क्या कहा जावे। परन्तु देखिये —

सर्वं विपय गीता सर्वंनाटकञ्च विडम्बना।
सर्वे आभरणा भार कामा सर्वं दुःखावहम्॥

अर्थ—सर्व विषयिक गायन विलाप के तुल्य है। सब नाच रङ्ग विडम्बना के समान है। सब अलङ्कार शरीर पर भार रूप है। अधिक क्या ससार के जो भी काम भोग हैं वे सब के सब दुःख के लिये ही हैं।

संसारी जीव दु खो से घिरे रहते हैं। फिर भी वह काम भोगो से अशक्त वने रहते हैं। नि सार क्षणभंगुर शरीर के लिए पाप कर्म करके वह भयङ्कर दु ख पाते हैं। ससारी मनुष्य सदा कामनाओ की पूर्ति में उलझा रहता है। वह शोक करता है। खिन्न होता है, मर्यादा छोड़ देता है, तथा पारिताप करता है। काम, भोग क्षणमात्र सुख देने वाले हैं। तो चिरकाल तक दु ख देने वाले हैं। उनमें सुख बहुत अल्प हैं। अत्याधिक दु ख ही दु ख है। मोक्ष सुख के लिये वह भयङ्कर शत्रु है।

ऐसे विषयो का त्याग करो, आत्म चिन्तवना करो कि फिर अपनी आत्मा को ससार में परिभ्रमण नही करना पडे। और जन्म, जरा, मरण के दु खो से मुक्त हो जावे। अपनी आत्मा को पहिचानो। यह आत्मा कौन है ? और इसके लक्षण क्या हैं ? इसके लक्षण हैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चरित्र यही आत्मा है सो इस आत्मा का पतन न करके उन्नति करने का ध्यान रखिये।



आत्मा

जो एक आत्म स्वरुप को जानता है वह सब कुछ जानता है। पुरुष तू ही स्वय अपना मित्र है तो फिर बाह्य जगत मे मित्र क्यो ढूंढता फिरता है। ऐसा सुना है कि बन्ध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा पर ही निर्भर है।

अपनी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी है तथा कूट शाल्मली वृक्ष है। और अपनी आत्मा ही स्वर्ग की कामदुग्धा धेनु है तथा नन्दनवन है। जरा सोचिये, देखिये।

कर्मों के साथ लड़ने मे आनन्द है। पर चुपचाप रह कर मार खाते रहना शर्म की बात है। अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिये। बाहरी शत्रुओ के साथ युद्ध करने से क्या लाभ है। आत्मा के द्वारा आत्म विजयी ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

समस्त इन्द्रियो को अच्छी तरह समाहित करते हुए पापो से अपनी आत्मा की निरन्तर रक्षा करनी चाहिए। पापों से अरक्षित आत्मा ससार मे भटका करती है और सुरक्षित आत्मा सुख-दु खों से मुक्त हो जाती है।

हे भव्यात्माओ ! तुम जागो-जागो-अरे तुम क्यों नहीं जागते ? परलोक में अन्तर आत्मा जागरण प्राप्त होना दुर्लभ है। बीती हुई रात्रिया कभी लौट नहीं आतीं। यह मानव

जीवन पुन पुन पाना आसान नहीं। जो प्राणी मात्र को आत्मवत् समझता है। अपने पराये सबो को समान दृष्टि से देखता है। निराश्रव होकर आत्मा का दमन करता है, वह पाप कर्मों से लिप्त नहीं होता।

प्रत्येक साधक प्रतिदिन चिन्तन करे कि—मैंने क्या कर लिया है, और क्या करना शेष रहा है ? कौनसा ऐसा सख्त कार्य है जिसको मैं नही कर सकता हूं। आत्मा ही अपने सुख दु ख का कर्ता है तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलने वाली आत्मा अपना मित्र है। और बुरे मार्ग पर चलने वाली आत्मा अपना शत्रु है।

इसलिये अपने आपको ही दमन करना चाहिये। वस्तुत अपने आपको दमन करने वाला उभय लोक में सुखी होता है। हे आत्मा! तू अपने आपको वश में कर जिससे तू दु खो से मुक्त हो जावेगा। यह सोच कर आत्मा की पहिचान करना चाहिये।

पहले ज्ञान है, पीछे दया-आचरण। इसी क्रम से सुचना त्यागी-वर्ग अपनी संयम-यात्रा के लिये आगे बढता है। भला अज्ञानी मनुष्य क्या आत्म साधन करेगा, श्रेय तथा प्रेय को वह कैसे जान सकेगा।

देखिये-शरीर को नाव कहा है, आत्मा नाविक कहलाता है। ससार को समुद्र बतलाया है। इस ससार समुद्र को महर्षि

जन पार करते हैं । । अपने आपको सोचने का है कि मैं अकेला हूं, मेरा कोई नही है, और न मैं किसीका हूं । इस प्रकार साधक अपने को अकेला ही समझें ।

भावना योग से जिसकी अन्तरात्मा शुद्ध हो गई है, वह पुरुष जल में नाव के समान कहा गया है । जैसे तीरभूमि को पाकर नाव विश्राम करती है । इसी प्रकार वह पुरुष सब दु खो से छुटकारा पा जाता है । मनुष्य-जीवन पाकर कर्मों से युद्ध करें । बाह्य युद्धो से तुझे क्या ? यदि इस बार तुम चूक गये तो फिर युद्ध के योग्य नर-जन्म मिलना कठिन है । जरा ध्यान दीजिये कि जो बीर दुर्जय सग्राम में लाखो योद्धाओ को जीतता है यदि वह एक अपनी आत्मा को जीतले तो वह उसकी सर्वोपरी विजय है । अगर दूसरे लोग मेरा विजय-वध-बन्धनादि से दमन करे इसकी अपेक्षा मैं सयम और तप के द्वारा अपना दमन करूं यह अच्छा है । अज्ञानी मनुष्य भूत और भविष्य को भूल जाता है । वह इस बात पर भी विचार नही करता कि इस आत्मा को ससार में क्यो भटकना पडता है ? और भविष्य में क्या दशा होगी । विद्वान पुरुष को चाहिये कि वह ससार भ्रमण के कारण दुष्कर्म रूपी पाशो को भली भाँति समझ कर अपने आप स्वतन्त्र रूप से सत्य की खोज करे । और सब जीवो पर मैत्री भाव रखे ।

अपना शिर काटने वाला शत्रु भी उतना आपका अप-राध नही करता, जितना कि दुराचरण में आसक्त आत्मा करती है। साधक प्रसन्नचित्त से अपने आपको समझावे कि—मैं अकेला हू, मेरा कोई नही है। और मैं भी किसी दूसरे का नही हू। ज्ञान, दर्शन और चारित्र से परिपूर्ण मेरी आत्मा ही शाश्वत है, सत्य सनातन है। आत्मा के सिवाय अन्य सब पदार्थ सयोग मात्र से मिले हैं।

ज्ञान मानवता का सार है। लेकिन ज्ञान का सार भी सम्यक्त्व है। सच्ची आत्मा श्रद्धा है।



अशरण भावना

मनुष्य धन-माल-मिल्कियत-कुटुम्ब परिवार सबो को अपना शरण मानता है कि ये सब मेरे हैं और मैं भी उनका हू। परन्तु ये सब मिथ्या भ्रम है। इनमें से कोई भी त्राण तथा शरण देने वाला नही। स्त्री, पुत्र मित्र और बन्धु जन सब कोई भी जीते जी के ही साथी हैं। मरने पर कोई भी साथ नही देता। निर्माता ससार के सब प्राणी अपने कृत कर्मों के द्वारा ही दु खी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म है उसका फल भोगे बिना पिंड नही छूटता ससार में लोग भिन्न भिन्न अभिप्राय वाले होते। अपने अपने दु ख सबो को स्वयं ही भोगने पड़ते हैं।

जैसे सिंह हिरण को पकड़ कर लेजाता है उसी तरह अन्त समय मृत्यु भी मनुष्य को उठा कर लेजाती है उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसके दु ख मे भागीदार नही बनते है।

ससारी मनुष्य अपने प्रियजनों के लिये बुरे से बुरे से कर्म भी कर डालता है। पर जब उसका दुष्फल भोगते में आता है तब अकेला ही दु ख भोगता है कोई भी उसके दु ख को बटाने वाला नही होगा। ध्यान देकर दीर्घ दृष्टि से देखिये इस ससार में कोई किसी का नही है। और अपनी आत्मा भी किसी की नही है। इसलिये ज्ञान, ध्यान तथा प्रभु दर्शन में तल्लीन रहना चाहिये। प्रभु के दर्शन करने से महान् लाभ होता है।

प्रभु दर्शन वर्णन

प्रभु दर्शन सुख सम्पदा प्रभु दर्शन नवनिध।
प्रभु दर्शन से पामिये सकल पदारथ सिद्ध ॥
दर्शन देवदेवस्य दर्शन पापनाशनम् ।
दर्शन स्वर्ग सोपान दर्शन मोक्ष साधनम् ॥

अर्थ —प्रभु के दर्शन से पाप का नाश होता है । मोक्ष का साधन भी यही है । जैसे आद्र कुमार को प्रभु युगादिदेव के दर्शन करने से जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ था। आद्र कुमार के दृष्टान्त से जानना चाहिये ।

प्राचीन समय में आद्रक देश में आद्रक नाम का राजा राज्य करता था। उस पृथ्वीपति के आद्रक नाम की रानी थी। और आद्रक नाम का पुत्र था। श्रेणिक राजा के और आद्रक राजा के परंपरा से मित्रता थी आपस में भेटना देने लेने का व्यवहार था। एक दिन राजग्रह नगर से श्रेणिक राजा का मन्त्री भेटना लेकर आया था। मन्त्री को देख कर आद्र कुमार ने अपने पिता से पूछा कि हे तात राजग्रह नगर कहां है, श्रेणिक राजा कैसा है । वहां कभी अपन जाते आते भी नही हैं।

पिता ने कहा हे पुत्र वहां जाने आनेका व्यवहार अपने नही है परन्तु मन्त्रीजन आते जाते हैं।

ऐसे पिता के वचन सुनकर फिर आद्रकुमार मन्त्री से पूछते हैं कि हे मन्त्रीजी तुम्हारे राजा श्रेणिक के कोई ऐसा पुत्र है कि जिससे मैं मित्रता करना चाहता हूं। मन्त्रीजी ने कहा कि "हां" राजा श्रेणिक के बुद्धिनिधान अभयकुमार नाम का पुत्र है। जो पांच सौ मन्त्रियों में मुख्य मन्त्री है। यह सुनकर आद्रकुमार बोले कि आप यहां से जाने के लिये प्रस्थान करो तब मुझ से मिलकर जाना। जब वह मन्त्रीजी जाने की तैयारी करते हैं तब राजा आद्रक ने श्रेणिक महाराज के लिये भेटना भेजी। आद्रकुमार ने भी भेटना लेकर अपने सेवक को मन्त्रीश्वरजी के साथ भेजा। मन्त्रीजी राजग्रही पहुंचे। और अपनी २ भेटना श्रेणिक महाराज को व अभयकुमारजी को देदी। अभयकुमारजी ने आद्रकुमार के भेटने को देख कर विचार करने लगे कि यह कोई भव्य जीव है, जो मेरे साथ मित्रता करना चाहता है। परन्तु इसको प्रतिबोध देना चाहिये। इस पर बुद्धि की विचक्षणता से श्री ऋषभदेव प्रभु की प्रतिमा को एक मन्जूष में स्थापन कर सब पूजा की सामग्री भी रख कर उस मन्जूष को बन्ध कर और उस पर अपनी मोहर छाप कर जो मन्त्री आद्रकुमार के देश से आया हुआ था उनको वह पेटी देदी और फिर आदेश देते हैं कि यह पेटी श्री आद्रकुमार को मेरी तरफ से भेट कर देना और कहना कि इस पेटी को एकान्त में बैठकर खोले।

इसमें जो वस्तु है। वह दूसरे किसी को नही दिखावे। खुद ही देखे। यह समाचार उन मन्त्रीजी के जरिये कहलाये। मन्त्रीजी ने भी उसी प्रकार जाकर आद्रकुमार से कह दिया और देदी। तब आद्रकुमार ने उस पेटी को अपने राजमहल मे पहुचा दी और एकान्त मे उसको खोल कर देखते हैं और देख कर सोचते हैं कि यह मेरे मित्र ने कैसा आभूषण भेजा है। यह जेवर कहां पहिना जाता है। इस प्रकार सोच कर उसको हृदय पर धारण करते हैं मस्तिष्क पर धारण करते हैं, हाथो पर धारण करते हैं। परन्तु वह कही पर भी ठहरता नही। एसे सोचते २ आद्रकुमार को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। और वह विचारने लगे कि ऐसी वस्तु मैंने कभी न कभी देखी थी परन्तु कहां देखी थी और कब देखी थी, वह विचारते विचारते अपने पूर्वभव को देखते हैं कि पूर्व भव में मैंने धर्म की विराधना की थी, मन से चारित्र की विराधना करने से इस अनार्य देश मे मेरा जन्म हुआ और मैं यहा पर धर्म नही पा सका। इसलिये अब मैं राजगृह नगर में जाकर मेरे मित्र सें मिलूं। और धर्म प्राप्त करूं। इस प्रकार विचार कर के पिता को पूछते हैं कि राजगृह जाने का कौनसा मार्ग है और किधर सें जाया जाता है। मैं वहां जाने की इच्छा करता हूं। और अभय कुमार सें मिलने की इच्छा है। ऐसा अपने पुत्र का वचन सुन कर राजा आद्रक कहता है कि हे पुत्र अपने को कभी वहा जाना नही। ऐसा कह कर पाँच सौ सुभटों को उनकी रक्षा के लिये रख दिये। तब सेवकों को आज्ञा देदी कि आप लोग सब

राजकुमार की देहछायावत् रक्षा करना, यह कहीं भी जावे तो, तुम इनके साथ जाना। सब से आद्र कुमारके दिल में अभयकुमार ही बसने लगे। उठते, बैठते सोते खाते हुए भी अभयकुमार का ही स्मरण करने लगे। उन्हे चैन नही पडता। अब उसने घोडा फिराना आरम्भ कर दिया। प्रतिदिन घोडा फिराने जाते थे। और सुभटों को कहते थे कि तुम यहां ठहरो मैं अभी थोडी दूर जाकर अभी आ जाता हू। ऐसे करते २ वह हमेशा दो चार मील जाकर आ जाते थे। और अपने प्राइवेट सेवकों से एक जहाज तैयार करवाया और सार २ वस्तुएं तथा श्री युगादि देव की प्रतिमा आदि सब समुद्र के किनारे जहाज में रखवा देते हैं। फिर घोडा फिराने हमेशा की भाति जाते हैं और उसी प्रकार सुभटो से कहते हैं, मैं जरा आगे जाकर आजाऊँ, तुम लोग यहा हो ठहरो। वे वहां ही ठहर जाते हैं। क्यो कि उनको विश्वास था कि हमेशा जाकर आ जाते हैं। परंतु उस दिन कुमार जाकर जहाज में बैठ कर राजगृही नगर के लिये रवाना हो जाते हैं। सेवको ने बहुत देर तक इन्तजार की परन्तु राजकुमार को आते हुए नही देख कर वह सब के सब कहने लगे कि अब राजा को जाकर कैसे मुँह दिखावें। आज तो राजकुमार अपने को धोखा देकर चले गये। फिर वह सेवक लोग दुष्कृत्य करके अपना निर्वाह चलाने लगे। अब आर्द्र-कुमार राजगृही पहुच गये। और ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा अभयकुमार के पास पहुचा दी और दीक्षा लेने को तैयार होगये। उस समय आकाश में से श्री शासनदेव कहते हैं कि

है' आद्र कुमार इस वक्त तुम दीक्षा मत लो, अभी तुम्हारे भोगावली कर्म बाकी है। लेकिन उन्होंने उस देववाणी को नही माना और प्रव्रज्या लेली और बुद्धि मुनि हो गये। और अच्छी प्रकार चारित्र का पालन करने लगे। परन्तु देववाणी कभी निष्फल होने की नही, कारण कि भविष्यकाल को कोई मिटा नही सकता। पूव भव की जो उनकी स्त्री बन्धुमती थी वह मरकर इस भव में सेठ की पुत्री श्री देवी नाम की हुई थी। किसी समय वह श्री देवी अपनी सहेलियो के साथ क्रीडा कर रही थी और वहा पर इन आद्र मुनि का आगमन हुआ। उस समय ऐसा आश्चर्य होता है कि बडी जोरो से हवा चलती है। धूल उडने से आँखें भरजाती हैं और आकाश मे जोर से गर्जना होती है। उस समय उन सब कन्याओ का खेल वर वरने का हो रहा था। किसी कन्या ने कहा कि मैं श्रेष्ठी पुत्र को वरूँगी। किसी ने कहा मैं राजकुमार को वरूँगी। परन्तु श्री देवी ने पूर्व सयोग से कह दिया कि मैं तो इन महात्मा को ही वरूँगी।

उसी समय अकस्मात गर्जना हुई और श्री देवी डरती हुई जाकर मुनि के पाँव पकड लेती है। यह उपद्रव देख कर मुनि वहा से विहार करके चले जाते हैं। उसने मुनि के पाँव में चिह्न देखा, जिससे वह उनको पहिचान सकती थी। जिस समय उसने ऋषि के पैर पकडे थे उस समय देवताओ ने आकाश से धन की वर्षा की थी।

वह धन राजा लेने को आये, परन्तु नहीं ले सके। और आकाश मे से यह आवाज हुई कि यह द्रव्य श्री देवी के पाणीग्रहण

के लिये दिया गया है। वह सब धन उनके पिताने ले लिया। जब उस श्री देवी के सम्बन्ध के लिये कोई श्रेष्ठीजन आते तो उसके पिता उन श्रेष्ठी पुत्रो से सम्बन्ध करने को तैयार हो जाते थे परन्तु श्री देवी पिताजी से कह देती कि मैं तो उन मुनि के सिवाय दूसरे के साथ पाणीग्रहण नहीं करूंगी। हे पिताजी! आप मुझे एक दानशाला खुलवा दीजिये, जो मैं दान देकर उनकी पहिचान करूंगी। इस प्रकार क्या होता है कि वही मुनि बारह वर्ष के बाद भूल कर वहा पर आ निकले और श्री देवी ने पहिचान लिया और वह पाँव पकड कर कहने लगी हे स्वामिन्! पहले तो आप मुझे छोड कर चले गये थे, परन्तु अब नही जा सकते। अगर आप चले जावेंगे तो मैं अग्नि में प्रवेश करके मर जाऊँगी, तो आपको स्त्री हत्या का पाप लगेगा। मुनि को भी शासन देवी का शब्द याद आ गया और श्री देवी के साथ पाणी ग्रहण कर लिया। साधु वेश को एक तरफ रख दिया। अब वह श्री देवी के साथ विषय सुखो को भोगते हुए रहने लगे। बारह वर्ष उनके पूरे हो गये और श्री देवी के एक पुत्र भी हो गया। तब एक दिन आद्र कुमार को विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने पूर्व भव में तो सिर्फ मन से ही चारित्र की विराधना की थी। जिससे मेरा जन्म अनार्य देश में हुआ है। परन्तु इस भव मे तो मैंने काया से चारित्र की विराधना की है सो मेरी क्या गति होगी। इस पाप से छूटने के लिये मुझे पुनः चारित्र लेना ही श्रेष्ठ है।

यह सोच कर स्त्री से कहने लगे, हे प्रिये! अव तेरे विश्राम के लिये पुत्र हो गया है अत मैं चारित्र लेना चाहता हूं।

ऐसे पति के शब्दो को सुन कर, श्री देवी अपने पुत्र को ज्ञात करवाने के लिये रेंटिया और पूणी (रूई) लेकर कातने को वैठती है। यह काय अपनी माता को करती हुई देख कर पुत्र मन्द मन्द वचनो से वोलता है कि हे माताजी, आप यह कायरो के जैसा कार्य करने को क्यो वैठी हो। तव माता कहती है कि हे पुत्र, तेरे पिता तो अपन दोनो को छोड कर दीक्षा लेने के लिये जा रहे हैं। तो फिर मेरे को तो इस रेटिये (चर्खे) का ही तो आधार है। यह सुन कर पुत्र ने कहा–हे माताजी, आप चिन्ता नहीं करें, मैं अभी मेरे पिता को इन सूत के तन्तुओ से वाध देता हू सो फिर वह कैसे जावेंगे। ऐसा कह कर सूत के तन्तुओ से पिता पलंग पर लेटे हुए थे और वह वहा जाकर वाध देता है। आर्द्रकुमार उठ कर उस सूत के धागे को गिनते हैं तो वह वारह धागे निकले। पुत्र के स्नेह से वारह वर्ष और भी वह घर में रहे। वाद में उनका फर्ज पूरा हो गया, फिर उन्होंने स्त्री, पुत्र से पूछ कर दीक्षा लेली और आत्मकल्याण करने में तत्पर हो गये। ऐसे जिनेन्द्र प्रभु दर्शन से कई भव्यात्मा इस संसार से तिर गये हैं व तिर रहे हैं और भविष्यकाल में

मी तिरेंगे। प्रभु दर्शन से क्या २ होते हैं? शास्त्रकारों ने कहा है —

श्लोक –दर्शनेन जिनेन्द्राणा साधुना वन्दनेन च ।
न तिष्ठति चिर पाप छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥

प्रभु दर्शन से और गुरु वन्दन से चिरकाल के पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे हाथ के छिद्र में जल नहीं ठहरता है। उसी प्रकार पाप भी नहीं ठहरते हैं।

शास्त्रकारों ने कहा है —

पुन –अद्यमे सफल जन्म, अद्यमे सफल क्रिया ।
शुद्धाद्दिनोदयेदेव, जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥

अर्थ —हे प्रभु आज आपके दर्शन से मेरा जन्म सफल हो गया, मेरी क्रियाएँ सफल होगई। और हे देव आज शुद्धदिन उदय हुआ। पूर्णतया आज मेरा दिन कल्याणकारी उदय हुआ है।

पुनरपि -अद्य मिथ्यान्धकारश्च, हतोज्ञान दिवाकर ।
उदेतिस्म शरीरेऽस्मिन्, जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥

अर्थ —हे जिनेन्द्रदेव! आपके दर्शन से मेरा अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो गया, और ज्ञान रूपी प्रकाश हो गया है।

यत --अद्यमे क्षालित गात्र , नेत्रेच विमले कृते ।
स्नातोऽह धर्म तीर्थेपु, जिनेन्द्र तवदर्शनात् ॥

अर्थ --हे प्रभु ! आपके दर्शन से मानो मैंने धम तीर्थ स्थान मे स्नान किया है । जिससे मेरे नेत्र पवित्र हो गये हैं । और शरीर का मैल धुल गया है ।

इस प्रकार से जो भव्यात्मा अपनी चित्तवृत्ति को एकाग्रह करके दर्शन करते हैं वे सव पापो से मुक्त हो जाते हैं, और पवित्र मन वाले होते हैं । इसलिये सबों को प्रभु दर्शन करना चाहिये और प्रभु की पूजा भी करना चाहिये । प्रभु दर्शन इस प्रकार से करियेगा । प्रभु के दर्शन से कम रूपी सव मैल धुल जाता है ।



श्री प्रभु-पूजा

भव्यात्माओं को अपने कल्याण के लिये प्रभु की पूजा भी करना चाहिये। पूजा दो प्रकार की होती है - द्रव्य पूजा व भाव पूजा कही गई है। द्रव्य पूजा उसे कहते है केशर, कस्तूरी, बरास, फल, पुष्प आदि से होती है। और भावपूजा चैत्य वन्दन, स्तवन, स्तुति आदि से होती है।

जिनेश्वर की पूजा करने से बहुत लाभ होता है। इस प्रभु पूजा से अनेक प्रकार की आई आपत्तिया मिट जाती है और अनेक प्रकार की ऋद्धिया प्राप्त होती है।

सिन्दूर प्रकरण में कहा है —

* शार्दूल विक्रीडितवृत्त *

पाप लुम्पति दुर्गति दलयति व्यापादयत्यापद।
पुण्य सचितुते श्रिय वितनुते पुष्णातिनीरोगता ॥
सौभाग्य विदधाति पल्लवयति प्रीति प्रसूते यश ।
स्वर्गयच्छति निर्वृतिचरचयत्यर्चार्हता निर्मिता ॥

अर्थ -श्री अर्हत् भगवान की की हुई पूजा पापो को काट देती है, व दुर्गति को मिटा देती है, आपत्तियों को नष्ट कर देती है।

पुण्यों को इकट्ठा करती हैं, लक्ष्मी की वृद्धि करती है, आरोग्यता को पुष्ट कर देती है, सुखों को देने वाली, सन्मान प्रतिष्ठा बढाती है, कीर्ति बढाती है, स्वर्ग देती है व मोक्ष मार्ग को बनाती है।

स्वर्गस्तस्य गृहागण सहचरी साम्राज्य लक्ष्मी शुभा।
सौभाग्यादि गुणावली विलसती स्वैरवपुर्वेश्मनि ॥ १ ॥
ससार सुतर शिवकर तल क्रोडे लुठत्यज्जसा।
यह श्रद्धा भरभाजन जिनपते पूजा विद्धते जन ॥२॥

अर्थ —जो मनुष्य श्रद्धायुक्त चित्त से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है उस मनुष्य के घर का आङ्गन सर्वाङ्ग स्वर्ग के समान हो जाता है तथा कल्याण कारक साम्राज्य रूपी लक्ष्मी उसके साथ रहने वाली स्त्री के समान हो जाती है। एव उसके देह रूपी घर में सौभाग्य, सम्पत्ति आदि गुणो की पक्ति हो कर विहार करती है। तथा उसके लिये संसार रूपी समुद्र सुख से रहने योग्य हो जाता है। और श्रेय साधन रूप मोक्ष उसकी हथेली में झट से लौटने लग जाती है। और भी जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने वाले को बिमारी कुपित होकर कभी सामने नही देखती। दरिद्रता भयभीत होकर दूर ही रहती है। कुगति विरक्त स्त्री के समान सघ को छोड देती है। और उन्नति मित्र के समान उसकी समपिता को नही छोड़ती है।

सती दमयन्ती ने जिनेश्वर की पूजा की थी। जिससे उसको सुख की प्राप्ति हुई, द्रौपदी ने भी प्रभु पूजन करके सम्यक्त्व

पूछ किया था । "जिन प्रतिमा जिण सारखी जाणो, न करो शङ्का कोई इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर प्रभु पूजा करनी चाहिये और वह किस प्रकार करना चाहिये ।

सो ज्ञातव्य है-पहिले शरीर की शुद्धि करनी चाहिये जैसे थोडा प्रमाण में शुद्ध जल को छान कर के ऐसे स्थान पर स्नान करें जहा जीवो की उत्पत्ति होने वाला स्थान नहीं होवे ।

उस स्थान पर स्नान करें फिर शुद्ध वस्त्र से शरीर को पौंछ लेवे और पवित्र वस्त्र पहिनें । पश्चात् केशर, बरास, कस्तूरी पुष्प, धूप, दीप आदि से तथा फल से और नैवेद्य से द्रव्य पूजा करें । तत्पश्चात भाव पूजा करें । चैत्यवन्दन, स्तवन स्तुति, प्रभुगुण आदि करके भाव पूजा करनी चाहिये ।

यह द्रव्य पूजा श्रावकों के लिये होती है । परन्तु साधुओं को तो केवल भाव पूजा ही करने का अधिकार कहा है । इस प्रकार से अवश्य ही प्रभु पूजन करना चाहिये ।



दान का वर्णन

देखिये प्रभु ने धम के कितने प्रकार के मार्ग वतलाये है। जैन वनना साधक के लिये परम सौभाग्य की यात है। जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा सिरोधाय करके उन्हीं की आज्ञानुसार कार्य करके जैनत्व का विकास करना इसीमे मानव जीवन का परम कल्याण है आदर्श जैन के आधार पर।

भारतवर्ष धम प्रधान देश है। यहां धर्म को वहुत अधिक महत्व दिया गया है। छोटी से छोटी वातों को भी धर्म के द्वारा ही परखना अच्छा माना गया है। भारत मे धर्म क्रियाओं की कोई निश्चित गिनती नहीं है जीवन समाप्त हो सकता है।

परन्तु धर्मक्रियाओं की गणना नही हो सकती। जितने भी अच्छे विचार और अच्छे आचार है वह सव धर्म के है परन्तु सव धर्मों में कौनसा सव से वडा धम है? यह प्रश्न है जो अनादि काल से साधक के मन में उठता आया है। इस प्रश्न का समाधान अनेक प्रकार से किया गया है। किसी महा पुरुष ने तप को वडा धर्म वताया है, किसीने दया को, किसीने सत्य को किसीने भक्ति को, किसीने ब्रह्मचय को तो किसीने क्षमा को सर्वोने अपने २ दृष्टिकोण से ठीक कहा है। परन्तु मेरी भावना से ज्ञात होता है कि दान धर्म सव से वडा धर्म है।

दान का महत्व वहुत ही वढा हुआ है, दान दुर्गति का नाश करता है, मनुष्य के हृदय को विशाल वनाता है, सोई हुई मानवता को जागृत करता है हृदय मे दया और प्रेम की गङ्गा बहा देता है, सहानुभूति का एक सुन्दर सुरभिमय वातावरण तैयार करता है। दान देने से ससार मे कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। दान देने वाला सवत्र प्रेम और आदर का स्थान पाता है। दानी की कीर्ति दसो दिशाओ में फैल जाती है।

दान देना कोई साधारण काय नही। अपनी सग्रह की हुई वस्तु को मुक्त कर किसीको अर्पण करदेना वस्तुत वहुत वडे सत्साहस का काम है। लोग कौडो २ पर झगडते हैं, पैसे २ के लिये अपने प्राणो को खतरे मे डाल देते हैं। दुनिया भर का तूफान खडा करने के वाद कही चार पैसे प्राप्त होते हैं। दस प्राण तो शास्त्र वताते है, धन को लोग ग्यारहवां प्राण वतलाते हैं। तभी तो कहा है—देना और मरना वरावर है। अपने पसीने की गाढी कमाई को परोपकार में खच करना वडे भाग्यशाली देवात्मा पुरुषो का काम है। जो भव्यात्मा दान करते हैं और प्रसन्नता पूर्वक देते हैं सचमुच वह देवस्वरूप है। दान देते समय दाता वहुत ऊँचा जीवन धारण कर लेता है।

जैन धर्म में दान की वडी महिमा है, दान देने को स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी वताया है। भगवान महावीर खुद वहुत वडे दानी थे। वचपन से ही उन्हे दान से प्रेम था। किसी भी भूखे गरीव को देखते तो उनकी आखो से आँसु उवड ने लगते

थे। जो भी पास में होता उसे गरीबो में वितीर्ण कर देते। (दान देते) वह हमेशा अपने को मिला हुआ विशिष्ट मिष्ठान्न आदि भोजन साथियो को बाँट कर ही खाते थे। राज पाट त्याग कर जब मुनि होने लगे तब भी भगवान ने एक वर्ष तक निरन्तर दान दिया था। जो कुछ भी अपने पास धन का सग्रह था वह सब का सब गरीबो को लुटा दिया था। उन दिनो में भगवान ने एकवर्ष तक नित्यप्रति एक क्रोड आठ लाख स्वर्ण मुद्रा दान में देते थे। इसी प्रकार भगवान श्री पार्श्वनाथ आदि दूसरे तीर्थङ्कर भी बहुत बडे दानी थे। जैन धर्म में जहाँ दान, शील तप और भावना के रूप में धर्म के चार भेद बतलाये है, वहां सब प्रथम स्थान दान ही को प्रदान किया है। वस्तुतः दान है भी सर्व प्रथम स्थान पाने के योग्य।

जैनशास्त्र में दान के चार प्रकार बतलाये है –(१) अहार दान, मनुष्य को सर्व प्रथम आवश्यकता भोजन की है। जब क्षुधा लगी हुई होती है तब कुछ नहीं सुझता, अन्न जीवन का प्राण है। जिसने अन्न का दान दिया उसने सब कुछ दिया। घर पर आये हुए साधु मुनिराजों को विनय भक्ति के साथ शुद्ध अहार वेहराना चाहिये। मुनिराजो को दान देना अक्षय सुख को प्राप्त करना है। परन्तु वह आहार कैसा होना चाहिये सो ध्यान रखिये।

अपने कुटुब के लिये भोजन बनाया है उस समय पर मुनिराज अपने पधारे हो और उत्कट भावनाओ से आहा

वहराया जावे। जैसे श्री हँस कुमार ने युगादिदेव श्री ऋषभदेव स्वामी को सेलडी (गन्ने) रस वहराया था वह बिल्कुल शुद्ध था। उसके रसके घडे भेंट में आये हुये थे उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं था, ऐसा अहार वहराना चाहिये। परन्तु मुनि के लिये बना कर भोजन नहीं देना चाहिऐ। ऐसे उनके लिये बना कर के देने से देने वाला और लेने वाला दोनो ही दोष के पात्र होते हैं। और मुनि को भी अहार ग्रहण करते समय ध्यान रखना चाहिये कि किसी प्रकार देने वाले को कष्ट नहीं होवे।

जैसे दसवैकालिक सूत्र में कहा है कि—

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो अवियई रस नय पुप्फ किलमेई, सो अ पीणेई अप्पय ॥ २ ॥ यह गाथा है।

अर्थ—भ्रमर पुष्पो पर बैठते है उनके रस का स्वाद लेते है परन्तु भ्रमर उन पुष्पो को तकलीफ नही देते है। इस प्रकार मुनिजनो को अहार लेना चाहिये। चाहे सरस होवे चाहे नीरस होवे। केवल अपनी आत्मा को भाडा देने के लिये ही उनको अहार करना है। परन्तु स्वाद नही लेवे। और अच्छा अहार देने वाले की मुनि लोग कभी भी प्रशंसा नहीं करें। और जैसा तैसा अहार देने वालो की कभी निन्दा नही करें।

अतएव किसी पर राग द्वेष भी नही करें। सबो पर सम दृष्टि रखें। शत्रु और मित्र को बराबर गिनें। तब ही तो मुनिजन आत्म कल्याण कर सकते है।

और भी बतलाया है कि साधुओ के सिवाय किसी भूखे गरीब को भोजन देना भी बहुत बडा धर्म एव पुण्य का कार्य है।

राजा प्रदेशी ने जैन मुनि केशी कुमार के उपदेश से प्रभावित होकर गरीबो के लिये अपने राज्य की आय का चतुर्थांश दान में लगाने का प्रबन्ध किया था। जैन धर्म विश्व-वेदना का अनुभव सदा से करता आया है। जनता के दु ख दर्द में बराबर का हिस्सेदार बनकर सहायता पहुचाना उसने अपना महान कर्त्तव्य माना है।

(२) औषध दान—मनुष्य जब रोगग्रस्त होता है तब किसी काम का नही रहता है। न वह पुरुषार्थ करके अपना और अपने कुटुम्ब परिवार का भरण पोषण कर सकता है। मन स्वस्थ होने पर ही सब साधना होती है। धर्मसाधन भी तब ही कर सकता है।

मन की स्वस्थता प्राय शरीर की स्वस्थता पर ही निर्भर है। जो कभी तुम बीमार पडे हो तो उस समय का अनुभव करके देखो कि कितनी वेदना होती है, कितना छटपटाते थे? बस समझ लो, सब जीवो को अपने समान ही दु ख होता है।

अतएव जैन धर्म मे औषध दान का भी बहुत बडा महत्व है। किसी आचार्य ने उसका महत्व चार प्रकार से बतलाया है। औषधदान का महत्व वचन से वर्णन नही किया जा सकता। औषध दान पाकर जब मनुष्य नीरोग होता है, तो एक बार तो सिद्ध भगवान के जैसा सुख पालेता है। आचार्यजी ने यह उपमा निरोगता की दृष्टि से कही है।

इसी प्रकार धर्म के एक और सात-सुखों की गणना करते हुए कहते है कि—'पहला सुख निरोगी काया' रोग रहित अवस्था को पहला सुख माना गया है। ठीक भी है–जब आदमी बीमार होता है तो कुछ भी अच्छा नही लगता है। भोजन, पान राग, रङ्ग सब अप्रिय मालूम होते है। औषधदान ही मनुष्य को पहला सुख प्रदान करता है।

जब कोई बीमार किसी की औषधी से अच्छा हो जाता है तब वह उनके लिये आशीर्वाद व भलाई के गुणगान करता है। यह आशीर्वाद ही मनुष्य को सुख शान्ति देने वाला होता है।

(३) ज्ञानदान—ज्ञान के बिना मनुष्य अन्धा होता है। किसी अन्धे को आँखें मिल जाय तो उसको कितना आनन्द होता है। उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य को विद्या का दान देना बहुत महत्वपूर्ण है। ज्ञानदान की तुलना चक्षु से की गई है।

निति में भी कहा है —

श्लोक -कोकिलाना स्वरो रूप नारी रूप पतिव्रतम् ।
विद्या रूप कुरूपाणा क्षमा रूप तपस्विन ॥

अर्थ —कोयल का रुप स्वर है, स्त्रियों का रूप पतिव्रत धर्म है, कुरुपा मनुष्य का रूप विद्या होती है, और तपस्वियों का भूषण क्षमा होती है। इसलिये ज्ञान सीखना भी आवश्यक होता है और सिखलाना भी आवश्यक है। प्राचीन काल में कई एक पाठशालाएँ खोली जाती थी। उस में छात्रगण विद्याभ्यास करते थे। विद्यार्थियों के लिए पाठशाला खुलना और पाठशालाओं में दान देना पुस्तकें आदि जिससें विद्यार्थियो का हित हो देना व छात्रावास बनवाना यह सब विद्यादान ही तो है।

जैन शास्त्रानुसार इस क्षेत्र में भी बहुत महत्वपूर्ण भाग लिया है। आचार्य अमितगति ने तो यहाँ तक कहा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो ही पुरुषार्थ विद्या के द्वारा सिद्ध होते हैं।

अत विद्यादान देने वाला चारों ही पुरुषार्थ पाने का अधिकारी है। भगवान महावीर स्वामी ने भी कहा है- "पढम नाणं त ओ दया' अर्थात् पहले ज्ञान है और बाद में दया, तप परोपकार आदि सब आचरण।

(४) अभयदान—अभयदान का अर्थ है कि किसी मरते हुए प्राणी को बचाना, किसी संकट में पड़े हुए प्राणी का उद्धार करना, यह दान सर्वश्रेष्ठ दान समझा गया है। भगवान महावीर के पट्टधर शिष्य श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा है कि-"दाणाणसेठ्ठ अभयप्पयाणं" अर्थात् सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। अभय दान तो धर्मों का प्राण है। जैन धर्म की बुनियाद ही अभयदान पर है। आचार्यों और बुद्धिमानों का कहना है कि अभयदान पाकर प्राणी को जो सुख होता है वह सुख संसार में न कोई दूसरा है, न हुआ और न कभी होगा। दयालु मनुष्य भगवान का दर्जा प्राप्त करता है। भगवान् महावीर ने भी भगवान का पद अभयदान के द्वारा ही प्राप्त किया था। भगवान ने न अपनी ओर से किसी को कष्ट दिया और न किसी को अपनी ओर से दिलवाया। इतना ही नहीं यज्ञ आदि में मारे जाने वाले मूक प्राणियों की रक्षा के लिये भी विशाल प्रयत्न किया। भारतवर्ष से अश्वमेघ आदि हिंसक यज्ञों का अस्तित्व का नाश होने में भगवान महावीर का वह अभयदान सम्बन्धी महान् प्रयत्न ही मुख्य कारण था।

अतएव प्रत्येक जैन का कर्त्तव्य है कि वह जैसे बने वैसे ही मरते जीवों की रक्षा करें। भूख और प्यास से मरते जीवों को अन्न जल द्वारा सहायता पहुंचाए। गौशाला आदि के द्वारा मूक पशुओं की रक्षा का उचित प्रबन्ध करे। जीवदया के कार्यों में अधिक से अधिक अपने धन का उपयोग करे।

आज के हिंसामय युग में दया की गङ्गा बहाने का आदर्श कार्य यदि जैन नहीं करेंगे तो कौन करेंगे।

जैन धर्मावलम्बी जहा भी हो, किसी भी स्थिति में हो सर्वत्र अहिंसा और करुणा का वातावरण पैदा करदे। सच्चा मनुष्य वही है जिसे देख कर दु ख दर्द से आँसु बहाने वालो के मुख पर भी एक बार तो प्रसन्नता का मधुर हास्य चमक उठे।

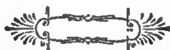
जैनी उसीको समझना चाहिये कि जहाँ भी हो जीवन-दान देने वाली में प्रसिद्ध हो।

दान के ये चार प्रकार केवल वस्तु स्थिति के निर्देशन के लिये बताये गये हैं। दान धर्म की सीमा यही तक समाप्त नही है। जो भी कार्य दूसरों को सुख शाति पहुचाने वाला हो वह सब दान के अन्तर्गत आजाता है। भगवान महावीर ने पुण्य की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अन्न, जल, धर्मशाला, अतिथि, वस्त्र आदि के दान से मनुष्य को स्वर्गादि सुखदाता पुण्य की प्राप्ति होती है। दान का यह विवेचन उन लोगो की आखें खोलने के लिये है, जो यह कहते हैं कि जैन धर्म तो निष्क्रिय धर्म है। वह केवल अपने तप और त्याग की भावना में ही सीमित है। जन-कल्याण के लिये कोई क्रियात्मक उपदेश उसके पास नही है। कोई भी विचार कर देख सकता है कि यह दान का विवेचन जैन धम की सक्रियता सिद्ध करता है या निष्क्रियता? जन कल्याण के क्षेत्र में जैन धर्म ने जो विचार धारा दान के रूप में ससार के समक्ष रखी है वह अपने जोड में बेजोड है।

दान का विवेचन एक प्रकार से समाप्त किया जा चुका है फिर भी एक दो प्रश्न ऐसे हैं जिन पर विचार करलेना अति आवश्यक है । कुछ लोग कहते हैं कि दान धर्म उत्तम वस्तु है परन्तु उसका अधिकारी केवल सुपात्र ही है, और दूसरा कोई नही है । एक मात्र साधु ही सुपात्र है । अतएव साधु के अतिरिक्त किसी गरीब दु खी संसारी प्राणी को दान देना अधर्म है, धर्म नही । ससारी जीव सब कुपात्र हैं और कुपात्र का दान भव भ्रमण का कारण है ।

परन्तु यह कहना सम्भव नही । गृहस्थ में रहने वाले स्त्री पुरुष दीन दु खी जो होते हैं वे भी सुपात्र कहला सकते हैं भगवान महावीर ने तो जैनत्व यह मुख्य लक्षण माना है कि दु खी को देख कर मन में अनुकम्पा भाव लाना और यथाशक्य उसका दु ख दूर करने का प्रयत्न करना । यह ठीक है कि सुपात्र को दान देने का बहुत महत्व है । परन्तु जहां सकट काल में किसी प्राणी को सहायता पहुचाने का प्रश्न हो वहा पात्र अपात्र का विचार करना किस धर्म का सिद्धान्त है ? कम से कम जैन धर्म का हमें पता है, वहाँ तो वह अणु मात्र भी नही है । जैन धर्म तो प्राणी मात्र के प्रति कल्याण की भावना को लेकर भूमण्डल पर आया है । वह मानव हृदय मे उठने वाली दया की लहरो को किसी विशेष जाति, विशेष राष्ट्र, विशेष पन्थ व विशेष

सम्प्रदाय अथवा विशेष व्यक्ति के सकुचित क्षेत्र में आबद्ध करना नहीं चाहता। जो गरीब भाई तुम्हारे सामने आकर एक रोटी के टुकडे की आशा प्रकट करें और अपना हाथ बढायें। क्या इस तरह उसने अपने आपको बहुत नीचे स्तर पर लाकर नहीं खडा किया है ? क्या वह गरीब कुपात्र है ? क्या दु खी को किसी से कुछ पाने का अधिकार नहीं है ? उस गरीब को अभाव ने जिस दुरवस्था में डाला है, क्या हम उसे उसीमें सडने दे ? क्या यह मानवता होगी ? नहीं, नहीं, दीन दु खी को दान देना कभी किसी तरह असङ्गत नही कहा जा सकता। इसीलिए दान देना आवश्यक है ।



ब्रह्मचर्य का वर्णन

सब व्रतो मे ब्रह्मचर्यव्रत मुख्य माना गया है । इस व्रतके पालने से महान् पुण्य उपार्जन होता है । जो व्यक्ति ब्रह्मचय का पालन करता है उसके चरणों मे देव भी नमस्कार करते हैं। जैसे —

हरति कुल कलङ्क लुम्पते पाप पङ्क ।
सुकृत मचिनोति श्लाघ्यातामा तनोति ॥
नमयति सुरवर्ग हन्तिदुर्गोपसर्ग ।
रचयाति सुचि शील स्वर्ग मोक्षौ शलीलम् ॥

अर्थ – शीलम् सतचरित्र खानदान के कलंक को हरण करता है । पाप रूपी कीचड को हरण करता है । पुण्यों को बढाता है । प्रशसा को विकसित करता है और देवताओ को झुका देता है । भयंकर उपद्रवो को मिटा देता है । तथा स्वग और मोक्ष के सुखो को प्राप्त करवा देता है व अब्रह्मचर्य अधम का मूल है । महा दोषो का स्थान है । इसलिये निग्रन्थ मोक्ष साधक मैथुन ससर्ग का सवदा परित्याग करते हैं ।

दशवैकालिक सुत्र में उद्धृत है —

विरई अबमचेरस्स-माम भोग-रसन्नुणा । उग्गय, महब्रयबम । धारेयव्व सुदुकर ॥

अर्थ – काम भोगो का रस जानने वाले के लिये अब्रह्मचय से विरत होना और ब्रह्मचर्य का महाव्रत धारण करना बडा ही कठिन कार्य है।

आचारङ्ग सूत्र में बतलाया है —

आस च छद च विगिं च धीरो तुम चेवत सल्लमाद्दू ॥

अर्थ —धीर पुरुष भोगों की आशा तथा लालसा छोडदें। तुम स्वयं इस काँटे को लेकर क्यों दु खी हो रहे हो।

देवताओं सहित समस्त संसार के दुखो का मूल एक मात्र काम भोगो की वासना ही है। काम भोगो के प्रति वित-राग-नि'स्पृह साधक शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दु खो से छूट जाता है। इन्द्रियो के विषय को ही ससार कहते है और संसार ही इन्द्रियो का विषय है। जैसे कछुआ खतरे की जगह अपने अङ्गों को अपने शरीर मे सिकोड लेता है। उसी प्रकार पंडित जन बुद्धिमान महात्मा पुरुष भी विषयाविमुख इन्द्रियो को आत्मज्ञान से सिकोड कर रखें।

जैसे सूत्र आचारङ्ग कहता है —

इण मेव नावक खति, जे जणा धुव-चारिणो। जाइ-मरण परिन्नाय चेर। सकमणे दढे ।।

जो चरित्र पर दृढ रहते हैं वे साधु कहलातेहैं । और वे काम भोगो की आकांक्षा नहीं रखते हैं। इसलिये साधक को जन्म मरण का स्वरूप जान कर सयम के मार्ग पर दृढता के साथ विचरण करना चाहिये ।

सुसाधु कदापिकाल अपने-व्रत नियम से भ्रष्ट नही होते हैं परन्तु जिसका चित्त चञ्चल है वह अपने पथ को छोड देते हैं। जैसे शुकर (सूअर) धान्य को और मिष्ठान्न को छोड़ कर विष्ठा की और दौडता है, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य भी सदाचरण को छोड कर दुराचरण में ही रमता है ।

जैसे रहनेमि राजिमति के अङ्गोपङ्गों को देख कर मोहित हो गये थे ,लेकिन सती राजिमती ने उपदेश देकर उसी क्षण उन्हे ठिकाने ले आई राजिमति ने कहा —

यद्रव कुलना जिनजी नेम नगीना वमन करी छे मुझने लेणरे देवरिया मुनिवर ध्यानमा रहजो । बन्धव तेवा तुम शिवोदवीना जाया। एवड़ो पठन्तर कारण केमरे देवरिया । मुनिवर ध्यानमा रेहजो ॥

भोग वमिया रे मुनिमनथी न इच्छे नाग अगधन कुलनी जेमरे देवरिया । मुनिवर ध्यानमा रजो । ध्यान थकी होवे भवनो पाररे देवरिया। मुनि ध्यानमा रहजो ॥

यह उपदेश सुनाकर राजिमति ने रह नेमीजी को दृढ कर दिया था और उसी सती ने अपने व्रत की भी रक्षा करली। जो भव्यात्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है उसे देव दानव गन्धव, यक्ष, राक्षस और किन्नर सब नमस्कार करते हैं। किसीको भोग सामग्री प्राप्त नही है, परन्तु उसका चित्त उसीमें आशक्त हो रहा है। तो वह त्यागी नही कहलाता हैं। त्यागी तो वही है जो सुन्दर और प्रिय भोगो को प्राप्त करके भी उससे विरक्त रहे।

दशवैकालिक मे कहा है —

जेय कते पिए भोए लद्धे विपिठ्ठी कुव्वई।
साहिणे चयई भोए सेहु चाइति वुच्चई॥

जो मनुष्य प्रिय भोगों को प्राप्त करके भी उनमें आशक्त नही होते हैं, सब प्रकार के स्वाधीन भोगो का परित्याग करते है। वही आत्मा सच्चा त्यागी है।

यह ब्रह्मचयव्रत-धम-ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत और जिनोपदिष्ट है। ब्रह्मचर्य की साधना से अतित में अनन्त सिद्ध हो गये हैं। वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्यकाल में भी होंगे। यह व्रत सर्वोत्कृष्ट है। भव्यात्मा को दीर्घदृष्टि से देखने का है कि यह साधुओ को तो सर्वथा त्यागने योग्य है। परन्तु गृहस्थो को भी यह व्रत पालना चाहिए। प्रतिदिन के लिये अगर कोई इसका पालन नही कर सकते तो पर्व तिथियों मे

और शाश्वती अष्टाइयो में तो अवश्य ही त्याग करना चाहिये। क्यो कि पर्व के दिनो में मैथुन सेवन से तियञ्च योनि में उत्पन्न होने का सम्भव है। इसलिये मर्यादा से त्याग करना आवश्यक है। इस व्रत के पालन से अभयदान का भी लाभ मिलता है। देखिये एक वार मैथुन सेवन से नौ लाख जीवो की हिंसा होती है। तो फिर कितना पुण्य है कि नव लक्ष जीवो को एक ही साथ अभयदान देना। जो भव्यात्मा है वह अवश्य ही व्रत का पालन करता है।



अहिंसा का विवेचन

भगवान महावीर ने अट्ठारह धर्म स्थानो में से सब से पहला स्थान अहिंसा बतलाया है। सब जीवो पर सम भावना रखना अहिंसा है। वह सब सुखो की देने वाली मानी गई है। सब प्राणियो को दु ख अप्रिय लगता है। अत किसी भी प्राणी की हिंसा नही करनी।

सभी प्राणी दीर्घायु चाहते, सुख पसन्द करते हैं, दु ख से घबराते हैं, सब को मरना अच्छा नही लगता है जीवन प्रिय लगता है, सब जीने की इच्छा करते हैं।

जिन भव्यात्मा ने हिंसा करना छोड दिया है, वही बुद्धिमान है। इस बात को बिलकुल ठीक समझना चाहिये।

जो मनुष्य प्राणियो की स्वय हिंसा करता है व दूसरो से हिंसा करवाता है, और हिंसा करने वालो की अनुमोदना करता है वह ससार में अपने लिये वैर को बढाता है।

जैसे सूत्र कृतांग मे कहा है —

वेराइ कुव्वइवेरी तओ वेरेहिं रज्जइ।
पावो वग्गाय आरभा। दु ख फासाय अन्तसो॥

अर्थ - वैर रखने वाले मनुष्य सदा वैर ही किया करते हैं। वह वैर में ही आनन्द मानते हैं। हिंसा काय पाप को उत्पन्न करने वाले हैं। अन्त में दु ख पहुचाने वाले हैं।

सम्यक् बोध को प्राप्त करने वाले बुद्धिमान हिंसा से उत्पन्न होने वाले वैर वर्धक तथा महा भयङ्कर दु खो को जान कर अपने को पाप कर्म से बचावे ।

देखिये अब प्राणियों के साथ मित्रता रखना ही श्रेष्ठ है। जैसे उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है —

समया सव्व भूएसु सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइ वाया विरइ जाव ज्जीवाए दुक्कर ॥

अर्थ —संसार में प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्रीभाव होना चाहिए भले ही वह अपना शत्रु हो या मित्र हो, परन्तु सवो पर समभाव रखना तथा जीवन पर्यन्त सभी प्रकार की हिन्सा का परित्याग करना बडा ही दुष्कर है। किसीसे शत्रुता करना भी एक प्रकार की हिंसा है। साधक जो मोक्ष सुख के अधिकारी को चाहिए कि संसार में रहने वाले त्रस और स्थावर जीवों पर मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करे और ,उसके साथ शत्रुता भी नहीं करे। ससार में जो कुछ उदार, सुख प्रभुता सुन्दता व आरोग्यता एव सौभाग्य दृष्टिगत होते है। वह सब अहिंसा के ही फल हैं ।

भक्ति परिज्ञा में कहा है –

तु ग न मदराओ, अगासा ओ विसालय नत्थि ।
जह तह जयम्मि जाणसु धम्म हिंसा समत्थि ॥

अर्थ – ससार मे जैसे सुमेरु से ऊँची और आकाश से विशाल दूसरी कोई वस्तु नही है। इसी प्रकार यह निश्चय समझो कि अखिल विश्व मे अहिंसा से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है। यह निश्चय जानो कि चारो गति के जीव जितने भी दु ख भोगते हैं वह सब हिंसा का ही फल है। भय और वैर से निवृत्त साधक जीवन के प्रति मोह ममता रखने वाले सब प्राणियो को सवत्र अपनी ही आत्मा के समान समझें। और उनको कभी भी जान से व अनजान से कष्ट न पहुचावें और हिंसा भी नहीं करें। यही मानवता के लक्षण है, और जीवन का सार है। अहिंसा परमो धर्म सब ही मानते है, परन्तु विषयशील मनुष्य भूल कर हिंसा करने लगते है। विचारे निरअपराधी जीवो को मारना। वे प्राणी जङ्गल मे रहते है, त्रण खाते है, और नदी तालावो का जल पीकर अपना निर्वाह करते है। शीत, ताप, भूख, तृषा को सहन करके अपना समय व्यतीत करते है। देखिये भगवान नेमिनाथ ने अहिंसा का पालन किया कि वे पाणिग्रहण करने के लिये उग्रसेन राजा के घरपर गये थे। वहां पर वे देखते है कि पशुओ के वाडे भर रहे है। और वे करुणामय शब्द कर रहे है। उन पशुओ को देख कर सारथी को पूछते है कि हे सारथी! यह पशु जीव क्यो इकट्ठे किये है। ऐसे पूछने पर

सारथी ने कहा, हे स्वामिन्! राजिमति की शादी में इनके मास का भोजन बनेगा और सबो को खिलाया जायगा। यह शब्द सुनकर प्रभु नेमिनाथजी को करुणा आगई और कहने लगे कि एक स्त्री के लिये इतने जीवों की हिंसा करवाना, यह तो बडा ही पाप है। ऐसे सोच कर सारथी से कहते हैं कि शीघ्र ही रथ को लौटा दो। मैं ब्याह नही करूँगा। यह देख कर समुद्रविजयजी तथा शिवादेवी माताजी श्रीकृष्णजी आदि सब ही नेमिनाथजी को समझाने लगे कि भाई तुम माता पिता के भक्त हो एकबार पाणी ग्रहण करो, फिर दीक्षा लेना पहले भी तीर्थंकरो ने पाणीग्रहण करके दीक्षा ली थी। हे पुत्र हमारे सामने हमारे मनोरथ पूरे करो फिर तुम्हारी इच्छा होवे सो करना। परन्तु वे नही माने और शीघ्र ही गिरनार पर्वत पर जाकर दीक्षाव्रत अङ्गीकार कर लिया। उनके पीछे राजिमत्ति ने भी अपने स्वामी का मार्ग स्वीकार करने का निश्चय किया था। उसकी सखियो ने बहुत ही समझाया कि नेमिनाथ चले गये तो क्या हुआ। तेरे लिये दूसरे वर की सोध करेंगे, परन्तु राजिमति ने कहा है सखी यह मेरे कानो को कष्ट पहुचाते है। इस जीवन मे तो मेरे यही पतिदेव है। इस समय मेरे हाथ को ग्रहण नही किया। परन्तु दीक्षा के समय में तो अवश्य ही मेरे शिर पर हाथ रखेंगे। उसने भी जाकर प्रभु के पास दीक्षा लेली।

और कम क्षय करके मोक्ष को गई। यह अहिंसा है। और ऐसे कितने ही उदाहरण देखने मे आते है ।

भगवान महावीर ने भी अहिंसा को प्रथम स्थान बतलाया है। जो मनुष्य पापाचार से डरता है वही आत्मसिद्धि के लिये कटिबद्ध हो सकता है और अपनी उन्नति कर सकता है। मोक्ष सुख को भी प्राप्त कर सकता है ।

यह अहिन्सा का प्रकरण बतलाया गया है । अब हिन्सा के बारे में थोडा सा वर्णन करते हैं कि कहां कहा पर हिन्सा होती है।



★ हिन्सा ★

किसी प्राणी को सताना ही हिन्सा है, झूठ बोलना भी हिन्सा है, दमन करना व किसीको धोखा देना भी एक प्रकार की हिन्सा ही है, चुगली करना, किसी का बुरा चाहना भी हिन्सा है, और दु खी होने पर घबराना व सुख में फूल कर अकडना भी हिन्सा हो है, किसी की निन्दा करना, गालिया देना व निकम्मी गप्पें मारना और किसी पर दोष प्ररूपना भी एक प्रकार की हिन्सा ही है। किसी पर अन्याय होता हुआ देख कर खुश होना हिन्सा है और शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना हिन्सा है, आलस्य में पडा रहना व सत्कम से जी चुराना हिन्सा है, इन्द्रियों का गुलाम रहना हिन्सा है, और दबे हुए क्लेश को उखाडना भी हिन्सा है किसीकी गुप्त बात को प्रकट करना हिंसा है, और शक्ति होते हुए सेवा नहीं करना हिन्सा है। बडो की विनय भक्ति नही करना और छोटों से प्रेम न रखना हिन्सा है ठीक समय पर फर्ज अदा नही करना भी हिन्सा है, और सच्ची बात को किसी बुरे सकल्प मे छिपाना और दुनिया के जजाल में तन्मय रहना भी हिन्सा है, और

ओर कर्म क्षय करके मोक्ष को गई। यह अहिंसा है। और ऐसे कितने ही उदाहरण देखने में आते है।

भगवान महावीर ने भी अहिंसा को प्रथम स्थान बतलाया है। जो मनुष्य पापाचार से डरता है वही आत्मसिद्धि के लिये कटिवद्ध हो सकता है और अपनी उन्नति कर सकता है। मोक्ष सुख को भी प्राप्त कर सकता है।

यह अहिन्सा का प्रकरण बतलाया गया है। अब हिन्सा के बारे में थोडा सा वर्णन करते हैं कि कहां कहां पर हिन्सा होती है।



★ हिन्सा ★

किसी प्राणी को सताना ही हिन्सा है झूठ बोलना भी हिन्सा है, दमन करना व किसीको धोखा देना भी एक प्रकार की हिन्सा ही है, चुगली करना किसी का बुरा चाहना भी हिन्सा है, और दु खी होने पर घबराना व सुख में फूल कर अकडना भी हिन्सा ही है किसी की निन्दा करना, गालिया देना व निकम्मी गप्पें मारना और किसी पर दोष प्ररूपना भी एक प्रकार की हिन्सा ही है । किसी पर अन्याय होता हुआ देख कर खुश होना हिन्सा है और शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना हिन्सा है आलस्य में पडा रहना व सत्कम से जी चुराना हिन्सा है इन्द्रियों का गुलाम रहना हिन्सा है, और दबे हुए क्लेश को उखाडना भी हिन्सा है, किसीकी गुप्त बात को प्रकट करना हिंसा है, और शक्ति होते हुए सेवा नहीं करना हिन्सा है । बडो की विनय भक्ति नही करना और छोटों से प्रेम न रखना हिन्सा है, ठीक समय पर फर्ज अदा नही करना भी हिन्सा है और सच्ची बात को किसी बुरे सकल्प मे छिपाना और दुनिया के जजाल मे तन्मय रहना भी हिन्सा है, और

प्राणियो को मारना हिन्सा है, हिन्सा कई प्रकार से होती है ।

केवल जीवो की घात करने से ही नही । किसी से कटु वचनो का व्यवहार करना और मर्म के वचन बोलना, भी हिन्सा है । इसलिये इन सब दोषो को शरीर से निकाल देना चाहिये । इन सब दोषो से हिन्सा का ही दोष लगता है । सो अप्रमादी होकर सावधान रह कर बोलना व वार्तालाप करने का ध्येय रखें । प्रेमाद से बिना विचारे व बिना सोचे समझे मुँह से शब्द नही निकाले ।

वाणी ऐसी बोलिये, जो कोई बोले बोल ।
हिये तराजू तोल के, पीछे बाहिर खोल ॥



अप्रमाद

ससार समुद्र से पार होने के लिये मनुष्यो को चाहियेकि अप्रमादी बनें, प्रमादरूपी निद्रा को दूर भगावें। प्रमाद होने से मनुष्य मूर्ख रह जाता है। और प्रमाद न होने से पण्डित बन जाते हैं। धीर मनुष्य एक क्षण भर का प्रमाद नही करता है। वह सोचता है कि हे आत्मन्! तेरा यौवन ढल रहा है और क्षण क्षण में आयु बीत रही है। जैसे वृक्ष का पत्ता रात्रि समूह बीत जाने पर पीला होकर गिर जाता है। वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। कुश की नोक पर स्थित ओस की बून्द की तरह मानव जीवन भी क्षण भगुर है। यह सोच कर प्रमाद नही करना चाहिये। बार बार मानव जीवन मिलना कठिन है। यह मानवता चिन्तामणी रत्न के समान है। यह शरीर नाशवान है इसको प्रमाद से व्यथ नही गवाँना चाहिए। जो व्यक्ति प्रमादी व गाफिल है उसे सर्वत्र भय रहता है। अप्रमत्त और सतर्क रहने वालों के लिये कही भी भय नही है। जो काय कल करने का है उसे आज ही करलेना चाहिये। न मालूम कल अपनी मृत्यु आ जायगी तो फिर क्या होगा वह अपने को छोडेगी नहीं, अवश्य ले जायगी। सोचलो।

उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

जस्सत्थि मुच्चुणा सक्ख जस्स वडत्थि पलायण ।
जो जाण न मरि स्सामि सोहुँ कखे सुए सिवा ॥

अर्थ —देखिये कि जिसकी मृत्यु से मित्रता हो और जो आत्मा भाग कर मृत्यु से पिण्ड छुडा सकता हो। अथवा जिसे यह निश्चय हो कि मैं मरूँगा ही नही । वही मनुष्य किसी सत्कम को कल पर छोड सकता है।

इस काल राजा का कोई विश्वास नही है किस वक्त में आकर जकड कर ले जायेगा। अति दुर्लभ तथा विजली के समान चंचल मानव जन्म पाकर भी जो आत्मसाधना में प्रमाद करता है वह कायर पुरुष है, सत्पुरुष नही। हे मनुष्यो ! जागो, जागो। प्रमाद की निद्रा को भगादो और तुम्हें जो काय कल करना है वह सत्काय आज ही करलेना श्रेयस्कर है। मृत्यु का कोई भरोसा नही वह तो वडी निर्दय है। उसके आने का निश्चय नही ।

हे भव्यात्माओं ! तुम अन्त करण में हमेशा जगते रहो। जागरणशील मनुष्य का ज्ञान वढ़ता है और ज्ञान की झलक से चाहे वह कुरूप क्यों न हो परन्तु उसका चेहरा चमकने लगता है। सो जो मोक्षार्थी आत्मा है वह अप्रमादी ही होता है। क्षण भर का प्रमाद भी अपना शत्रु है, ऐसे शत्रु को पास मत आनेदो। अप्रमादी मनुष्य वैराग्य रूपी रंग से रगा जाता है।

जब पाप कर्मों का वेग क्षीण होता है और अन्तर आत्मा क्रमश शुद्धि को प्राप्त होती जाती है, तब कहीं मनुष्य जन्म मिलता है।

सरल आत्मा शुद्ध होती है, और शुद्ध आत्मा में ही धर्म निवास करता है। जैसे घृत सचित अग्नि की तरह प्रदीप्त शुद्ध साधक ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

जन्म का दु ख है, जरा का दु ख है, रोग और मरण का दु ख है। अहो। सारा ससार दु ख रूप ही है। यहाँ सब प्राणी दु'ख की आग में ही जल रहे हैं। प्राय करके दु ख और सुख सभी प्राणी को सहने पड़ते हैं। अब भी जीने की घड़ियां बाकी हैं इस बात का विचार करके अवसर को पहिचानो। इसे मत भूलो।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है —

मणु सत्ते असारम्मि वाहि रोगाण आलए।
जरा मरण घत्थिम्मि खण पि न रमामह ॥

अर्थ —मानव शरीर असार है, आधि-व्याधियों का घर है जरा और मरण से ग्रस्त है। अत मैं क्षण भर भी इसमें रहना नहीं चाहता। यह शरीर पानी के बुलबुले के समान है।

क्षण भगुर है, पहिले या पीछे छोडना ही है। अत इसके प्रति मेरी तनिक भी प्रीति या आशक्ति नहीं है। मनुष्य का जीवन रूप, सौन्दय और धन विजली की चमक जैसी चञ्चल है। आश्चर्य है कि फिर भी तुम इस पर मुग्ध हो रहे हो। परलोक क्यो नहीं देखते हो। हे भव्यात्माओं! देखो तुम जिनसे सुख की आशा रखते हो वस्तुत वे सुख के कारण नहीं है। मोह से घिरे हुए लोग इस वात को नहीं समझते हैं। जितने अज्ञानी पुरुष हैं वे सव दु खो के भागी हैं। सत्य असत्य के विवेक से शून्य वह इस अनन्त संसार मे वार वार पीडित रहते हैं।



वैराग्य

साधक आत्मा न तो जीने की इच्छा करे और न शीघ्र मरना ही चाहे। जीवन तथा मरण किसी में भी आशक्ति न रखें। धीर पुरुष को भी मरना है और कायर पुरुष को भी अवश्य मरना है। जब मरना अनिवाय है तो धीर को प्रशस्त मौत से मरना ही बेहतर है। सच्चा साधक लाभ-अलाभ, सुख दुःख, निन्दा प्रशंसा और मान-अपमान में समान ही रहता है। जो साधक वैराग्य रग में भीना हुआ है उसके लिये मान सन्मान कोई चीज नहीं है, चाहे कोई उसकी निन्दा करे या प्रशसा करे, दोनो पर सममावना रखे।

साधक को चाहिये कि दूसरो का अपमान नही करें और अपने को बडा नही समझें। शास्त्रज्ञान पाकर अभिमान न करें और जाति रूप, धन, यौवन कुटुम्ब, तप, बुद्धि आदि का भी अहङ्कार न करें। पूजा, प्रशंसा, चन्दन नमस्कार, ऋद्धि सत्कार और सम्मान इनकी साधक मन से भी इच्छा न करें। पूजा प्रशंसा की कामना तथा मान सम्मान की लालसा रखने साधक बहुत ही पाप करते हैं। माया तथा दम्भ का सेवन करते हैं। यश कीर्ति तथा संसार के समस्त काम भोगों को विद्वान साधक इन सब को आत्मघातक समझकर इनका त्याग करे। और ससार के काम भोगों के प्रति उदासीन भावना रखे। उन पर आशक्त न रहे वही सच्चा वैरागी है और आत्मसिद्धी करता है।

उनके नये कम नही बाधता है और उसके पूर्वकृत कम धीरे धीरे क्षय होते जाते हैं।

ऐसी साधना करने वाला वह किसी दिन भिक्षु यानि प्रवज्या ग्रहण करने योग्य हो जाता है और उसे ग्रहण कर अच्छी पकार से उसका पालन कर सकता है।



भिक्षु कौन ?

देखिये भिक्षु कौन है, और किसको भिसु मानना चाहिये। दसवैकालिक सूत्र में कहा है —

चत्तारिं वमें सया कसाए धुव जोगी व हवीज्ज बुद्धवयणे।
निज्जायरूव-रयए-गोहि जोग परिवज्जजे स भिक्खू॥

अथ —जो सदा क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का परित्याग करता है, जो ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर अटल विश्वासी है, जो चाँदी, सोना आदि किसी प्रकार का परिग्रह नही रखते हैं, और जो गृहस्थो से स्नेह नही जोडता है, और जाति का, रूप का, लाभ का, पाण्डित्य

का किसी भी तरह का अहभाव व अभिमान से विरक्त रहे, केवल धम ध्यान में ही आशक्त रहता है वही भिक्षुक है। जो महामुनि सद्धम का उपदेश करते हैं। स्वय धम मे स्थित हो कर दूसरे को भी धम मे स्थित करते हैं। घर गृहस्थी के जजाल से निकल कर सदा के लिये कुशील लिंग को छोड देते हैं। किसी के साथ हँसी, मजाक नही करते हैं। हाथ पाँव, वाणी और इन्द्रियो का पूर्ण संयम रखते हैं और आध्यात्म चिन्तन में ही रत रहते हैं। अपने आपको भली भाँति समाहित रखते हैं और सूत्राथ के ज्ञाता है, जो सम्यग्दर्शी हैं कतव्य मूढ नहीं है। ज्ञान, तप और सयम का दृढ श्रद्धालु है। मन वचन और काया को पापों की ओर सेरोक कर रखते हैं और तपके द्वारा पूव संचित पापों को नष्ट कर डालते हैं। शरीर से परिषहो को धैर्यता पूवक सहन करके संसार गत से अपना उद्धार कर लेते हैं। और जन्म मरण को महा भयंकर समझ कर सदा श्रमणोचित तप में विचरते हैं। वेही भिक्षु साधु या मुनि कुछ भी कहदो वे सच्चे भिक्षु माने जाते हैं। जिन्हो ने सब ऋद्धि को तृण के समान समझ कर त्याग दी है वे धन्य है। और भी महात्मा ज्ञानी, मुनि के लक्षण है कि जो उनके मूख शिष्य होते है उनको ज्ञानाभ्यास करवाते है और उन्हे बडे विद्वान बनादेते है। उनको हित शिक्षा दे करके धर्म मार्ग पर ले आते है और वे

शिष्यगण भी सरल स्वभाव वाले होते है, विनय वाले होते है, गुरुओ की आज्ञा को सिरोधार्य करने वाले होते है, वही सुशिष्य गुरुजनो से ज्ञान प्राप्त करलेते है। और ज्ञानाभ्यास करके आत्मशुद्धि कर सकते है और ससार में रहने वाले जीवो को भी सद्धर्म का उपदेश दे करके धर्म मार्ग पर ले आते है। यह जैन मुनियो में स्वभाव से ही सब बातें होती है। उनकी प्रकृति ही ऐसी सरल होती है।



★ जैन-जीवन ★

जैनधर्म प्राचीन धर्म है। जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ है जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है। मुझे इस बात में किसी प्रकार का उज्र नहो है कि वह वेदान्त आदि दर्शनो से पूव का है। इतिहास शास्त्र के सुप्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जर्मन विद्वान डाक्टर हर्मन जे० को० बी० लखते है—जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मुझे विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नही है। और इसीलिये प्राचीन भारतवर्ष के तत्व-ज्ञान और धर्म पद्धति के अध्ययन करने वालो के लिये वह बडे महत्व की बात है।

स्वतन्त्र भारत के प्रथम गर्वनर जनरल चक्रवर्ति राजगोपालाचार्यजी ने अपने एक प्रवचन में कहा है -जैन धर्म प्राचीन है। और उसका विश्वास अहिंसा में है।

जैन-जीवन किसे कहते है जैनो मूख से कम खाता है। और बहुत कम बोलता है, व्यर्थ नही हँसता है, बडो को आज्ञा मानता है हमेशा उद्यमशील रहता है गरीबी से नही शर्माता है धन पर घमण्ड नही करता है, किसीसे छल कपट नही करता है, सत्य के समथन से नही डरता है, हृदय उदार होता है, हित मित्त मधुर बोलता है, संसार में संकट सहता

हुआ हँसता है, और अभ्युदय मे नम्र रहता है, अज्ञानी को ज्ञान देना मानवता है, और ज्ञान के साधन विद्यालय आदि खोलना भी मानवता है, भूखे प्यासे प्राणियो पर दया लाना, भूले हुए को मार्ग वतलाना यह भी मानव जीवन का धर्म है। जहा विवेक होता है वहा प्रमाद नही होता और वहा लोभ भी नही होता है जहा विवेक होता है वहा स्वार्थ और अज्ञान भी नही होता है। हरएक व्यक्ति को प्रतिदिन विचार करना चाहिये कि आज मेरे मन से, वचन, से क्या क्या दोष हुए है, कितना पाप हुआ और कितना पुण्य हुआ है। जो मैंने जान से अथवा अनजान से पाप किया उसके लिये मिच्छामि दुक्कड देना चाहिये। और पुण्य की अनुमोदना करना चाहिये, सुख का मूल धर्म है। और धर्म का मूल दया है। दया का मूल विवेक है। विवेक से उठो विवेक से वैठो, विवेक से चलो, विवेक से वोलो, विवेक से खाओ, विवेक से सव काम करो। और पहनने ओढने मे भी विवेक का ध्यान रखो। घूमने फिरने मे और सोने वैठने में मर्यादा रखो। और वडो के सामने किस प्रकार वोलना चाहिये। वार्तालाप कैसे करना चाहिये, इस वात की भी मर्यादा रखो। वडो के सामने विनय से और नम्रता से वोलना चाहिये। और छोटो के सामने प्रेम से वोलना चाहिये।

भव्यात्माओ को चाहिये कि मन से दूसरो का भला चाहना, वचनो से परकी आत्मा को सुख पहुचाना और शरीर से दूसरो की सहायता करना। धन से दुःखी मनुष्यो के दु खो

को दूर करना, यह सब परोपकार है। बिना परोपकार के जीवन निरर्थक है और परोपकार के बिना दिन निरर्थक गिना जाता है। जहा परोपकार नही वहा धर्म नही परोपकार की जड कोमल हृदय है। परोपकार कल करने की भावना हो वह आज ही करना। बिना धन के भी परोपकार हो सकता है। धन और शरीर का मोह परोपकार नही होने देता। बदले की आशा से परोपकार करे वह मूख है। बिना स्नेह और प्रेम के परोपकार करे वह भी मूर्ख है। देखिये यह अपना जीवन खाने पीने के लिये नही है किन्तु जीवन के लिए खाना पीना है। और धन के लिये जीवन नहो किन्तु जीवन के लिये धन है। धन से जितना अधिक मोह है उतना ही पतन है। व जितना कम मोह है उतना ही उत्थान है। ऊपर जो कही गई है, इन्ही वातावरण से और ऐसे ही व्यवहारों से धम की दृढता अटल श्रद्धा जिनकी हो जाती है, वही प्राणी धर्म की प्राचीनता को जान सकता है। इस जैन धर्म की प्राचीनता के लिये कितने ही ग्रन्थ मौजूद हैं।



★ जैन-धर्म ★

भगवान ऋषभदेव वर्तमान कालचक्र मे जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर हुए है । आपके पिता का नाम श्री नाभिराजा और माता का नाम मरुदेवी था । आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री भरत चक्रवर्ती थे। जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष प्रख्यात हुआ ।

वैष्णव धम के प्राचीन ग्रन्थ श्री मद्भागवत में श्री ऋषभदेवजी का चरित्र बडे विस्तार के साथ वर्णन किया है और कहा भी है कि श्री ऋषभदेव अरिहन्त का अवतार रजोगुण व्याप्त मनुष्यो को मोक्षमार्ग दिखलाने के लिये हुआ ।

अयमवतारो रजस्लीपप्लुत कैवल्योपशिक्षणार्थ ॥

भारतवर्ष के प्राचीनग्रन्थो में श्री ऋषभदेवजी का भी महत्वपूर्ण स्थान है । सर राधाकृष्णन जैसे महान दार्शनिक विद्वानो ने वेदो का गम्भीर अध्ययन किया है और उनको वहाँ श्री ऋषभदेवजी का वर्णन स्पष्ट उपलब्ध हुआ है । उदाहरण के लिये ऋग्वेद पर ही सर्व प्रथम अवलोकन करिये ।

आदित्या त्वगसि, मादित्य सद आसीद अस्त मृदधा वृषभोतरिक्ष ममिमीते वरीमाणम् । पृथिव्या

आसीत् विश्वा भुवनानि सम्राड विश्वेतानि वरुणस्य वचनानि ॥ ऋ० ३० अध्या० ३ ॥

उक्त श्लोक का यह भावार्थ है—तू अखण्ड पृथ्वीमण्डल का सार त्वचा रूप है, पृथ्वीतल का भूषण है। दिव्य ज्ञान द्वारा आकाश को नापता है। हे ऋषभनाथ सम्राट् इस संसार में जग-रक्षक व्रतो का प्रचार करो।

पुराणो मे शिवपुराण का एक विशिष्ट स्थान माना जाता है। भगवान ऋषभदेव का वहा भी अतीव गौरवपूर्ण उल्लेख है।

कैलाशे पर्वते रम्ये वृषभोऽय जिनेश्वर ।
चकार स्वावतार च सर्वज्ञ सर्वग शिव ॥ ५० ॥

अर्थात् विश्व का कल्याण करने वाले सवज्ञ जिनेश्वर भगवान ऋषभदेव कैलाश पवत पर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं।

यहा ध्यान देने की बात यह है कि जिनेश्वर शब्द तीर्थंकर एव अरिहन्त के लिये ही रूढ है। जैन साहित्य कहता है कि भगवान ऋषभदेव ने कैलाश पवत पर मोक्ष प्राप्त किया था। और भारतीय साहित्य में योगवाशिठ एक महान् ग्रन्थ है। उक्त ग्रन्थ में श्री वशिठजी ने श्री रामचन्द्रजी को धर्मोपदेश दिया है।

वहा कितना सुन्दर वर्णन मिलता है। रामचन्द्रजी कहते हैं -

नाह रामो न मे वाछा, भावेसु च न मे मन ।
शान्ति मास्थातु मिच्छामि स्वत्म मन्येव जिनो यथा ॥

श्री रामचन्द्रजी कह रहे हैं कि – मैं राम नही हूं मुझे किसी वस्तु की चाह नही है, मेरी अभिलाषा तो यही है कि जिनेश्वरदेव की तरह अपनी आत्मा मे शान्ति लाभ प्राप्त करूं। ऊपर के उदाहरणो से प्रमाणित होता है कि जैनधम तथा जैन तीर्थंकरो का अस्तित्व रामजी से भी पहले का है। इतिहास कारो की धारणा के अनुसार रामचन्द्रजी को हुए कुछ अधिक ११ लाख वप हो गये हैं।

जैनधम प्राचीन धम है तब से प्रचलित हुआ है जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है। और यह धर्म स्वतन्त्र है, इस प्राचीन धर्म का साहित्य व कितनी ही वस्तुएं प्रमाणित मिलती हैं।



क्षमा

इस धर्म में सर्वोपरी तप क्षमा बतलाई है क्षमा का तात्पर्य है कि प्राणी मात्र पर मैत्रीभाव रखना। जैसे पत्र प्रतिक्रमण में कहा है —

सव्वस जीवरासिस्स भाव ओधम्मनिहि अचितो।
सव्वे खम्मावईत्ता खम्मामि सव्वस्स अहयपि॥

अर्थ —धर्म में स्थिर चित्त होकर मैं सदा सद्भाव पूर्वक सब जीवो से अपने अपराधो की क्षमा चाहता हू। और अपनी ओर से मैं भी उनके अपराधो को क्षमा करता हू।

इसे क्षमा कहते है। भगवान महावीर स्वामी ने कहा है कि क्षमा सब से उत्कृष्ट तपस्या है। चाहे कितनी तपस्या कर लेवे परन्तु क्षमा नही रखी, क्रोध किया तो सब तप का फल नष्ट हो गया। जैसे कुणाला नगरी के मुनिराज जो मास मास क्षमण की तपश्चर्या करते थे। परन्तु शिष्य पर क्रोध किया और शिष्य को मारने को दौडे तब रात्री का समय था उपाश्रय में थम्भे थे उनसे शिर फूटा और मरकर के चण्डाल कौशिक सर्प हुए। इसीलिये आप जिज्ञासुओ को मेरी नम्र प्रार्थना है कि पहले क्षमा रखना सीखे फिर बाद मे तप करना श्रावकजन प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते है और कहते है —

खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमतु में।
मित्तिमे सव्व भूएसु, वेर मज्झ न केणई ॥

देखिये इसका अर्थ विचारिये। मैं सब जीवो को क्षमाता हू। वे सब जीव भी मुझे क्षमा प्रदान करे। मेरी सब जीवो के साथ मित्रता है। किसीके साथ भी मेरा वैर विरोध नही है। इस अर्थ को हमेशा ध्यान मे रखनी चाहिये और इसी प्रकार विचार करके प्राणी मात्र के साथ मित्रता रखनी चाहिये, किसीसे क्रोध कषाय नही करे, वही भगवान महावीर की आज्ञा का पालक है। वह भव्यात्मा हमेशा क्षमा धारण करता है। और जो विराधक है वह अपनी इच्छानुसार कार्य करता है।

जिन्हो ने क्षमाव्रत का अवलम्बन लिया था वे महापुरुष आत्म शुद्धि करके अखण्ड सुख (मोक्ष) के अधिकारी हो गये हैं। उनका नाम आज भी संसार में प्रसिद्ध है। देखिये म्हेतारज मुनि खंधक मुनि, गजसुकुमाल मुनि इन्हो ने कैसी क्षमा धारण की, इनका चरित्र बडा ही गौरवशाली है। अपने ही भुजाबल से इन्हो ने अपना नाम अमर कर लिया है।

इसी प्रकार क्षमाशील बनने का प्रयत्न करके आत्म उन्नति करो और धीरे २ उन्नति करते २ किसी दिन यह अपनी आत्मा भी मोक्ष सुख की अधिकारिणी हो जायेगी।

卐 क्रोध 卐

जिन महा पुरुषो ने विपत्तियों का सामना किया था और अनेक कष्टों को सहन किया था उन्हीं का नाम आज तक भी ससार में जानते है । भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, महावीर स्वामी आदि तीर्थंकरो ने क्या क्या काम किये थे ?

किस प्रकार अपना नाम अमर कर लिया। इसका कारण है तो यही है कि क्रोध मान माया और लोभ इनको जीत लिया था। और राग द्वेष को दूर करके आत्मा को पवित्र बनाली थी।

नारदजी ने कहा है'—

क्रोध मूलो मनस्ताप क्रोध ससार साधनम् ।
धर्म क्षयकर क्रोधस्तस्मात परिवर्जियेत ॥

अर्थ—*क्रोध ही मन के सताप की जड है क्रोध ही* संसार सागर मे डालता है, और क्रोध से ही धम का नाश होता है, अतएव क्रोध का सवदा त्याग करना चाहिये।

जो मनुष्य शरीर नाश के पहले ही क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सह सकता है यानी क्रोध को जीत लेता है। वही मनुष्य योगी और सुखी है। जैसे कहा है —

दोहा –कोटि करम लागे रहे, एक क्रोध की लार ।
किया कराया सब गया, जब आया अहकार ॥
दसों दिशा से क्रोध की, उठी अपरबल आग ।
शीतल सगत सत की, तहा उवरिये भाग ॥
कुबुद्धि कामनी चढ रही, कुटिल वचन का तीर ।
भरि भरि मारे कान में, साले सकल शरीर ॥
जहा दया तहा धरम है, जहा लोभ तहा पाप ।
जहा क्रोध तहा काल है, जहा क्षमा तहा आप ॥
कबीर नवे सो आपको, परको नवे न कोय ।
घाली तराजू तोलिये, नवे सो भारी होय ॥
ऊँचे पानी ना टिके, नीचे ही ठहराय ।
नीचा होय सो भरी पिवे, ऊँचा प्यासा जाय ॥

इन उपरोक्त वातों को ध्यान में रखिये और क्रोध त्याग के उपाय सीखिये ।

१–क्रोध आवे तव चुप रह जाय हो सके तो क्रोध आने पर पाच मिनट रुकजाने का (न बोलने का) नियम करले ।

२ –वडों पर क्रोध आते ही उनके चरणों में गिर पडे ।

३–सब में परमात्मा को देखने का अभ्यास करें । ईश्वर पर क्रोध कैसा ?

४—सब को आत्मरूप देखने का अभ्यास करें। अपने आप पर प्राय कोई क्रोध नहीं करता।

५—किसीके कुछ कहने पर क्रोध आवे तो इस बात का विचार करे कि उसका कहना ठीक है या नहीं यदि ठीक है तो क्रोध कैसा? उसने मेरा कोई दोष बतलाया और वह दोष या वैसा ही कोई दूसरा दोष मुझ में है तो उसने सावधान करके उपकार किया। दोष प्रकट करके मेरा असली रूप दुनिया के सामने रख दिया निन्दा करके मान का बोझा उतार दिया।

यदि झूठा दोषारोपण करता है तो वह भूला है और भूला हुआ दया का पात्र है। किसी प्रकार भी क्रोध को जगह नहीं देनी चाहिये।

बारबार इस प्रकार के विचार का अभ्यास रहने से क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी इस विचार की स्मृति हो सकती है और इससे क्रोध के दमन में बहुत मदद मिलती है।

६—अहंकार या मद के त्याग का अभ्यास करें।

७—क्रोध को सदा ही दुर्गुण और अधोगति में लेजाने वाला समझें।

८—क्रोधियों की दुर्गति का इतिहास देखें।

९—एक डायरी बनालें जिसमें क्रोध आते ही नोट करलें और

रात को सोते समय क्रोध की संख्या देख कर पश्चाताप करें और आगे ऐसा न होने देने के लिये मन को दृढ़ करें।

१०—नित्य प्रात काल इच्छा शक्ति से क्रोध न आने देने की प्रबल भावना करें और परमात्मा से विनय करें।

११—क्रोध आने पर भगवन्नाम का जाप करने लगे। होसके तो नियम करलें कि क्रोध का आवेग आते ही एक पूरी माला जप किये बिना मुँह से कुछ नहीं बोलूगा। होसके तो एक उपवास करें।

यही उपाय है क्रोध को जीतने का, क्रोध को जीत लिया है उसने सब को जीत लिया है।



★ मोक्ष ★

मोक्ष क्या है ? सब कर्मों से मुक्त होना। इस मोक्ष सुख का अधिकारी कौन हो सकता है और किस प्रकार होता है ।

कहा है —

आत्मवत् सर्व भूतेषु य पश्यति स पण्डित ॥

जो आत्मा ससार के सब प्राणियों को आत्मवत् समझते हैं प्रिय दृष्टि से देखते है वही पण्डित है। ससार को अशाश्वत समझते हैं व प्रमाद को छोड कर धर्माराधना करते है वही मह्यात्मा मोक्षका अधिकारी होते है । मोह माया में फँसे हुए ऐश आराम करने वाले विषयो में लुब्ध, जो जन होते है, वह इस अखण्ड सुख से वचित रहते हैं।

जो साधक मोक्ष के अतिरिक्त कही रुचि नही रखते, खाने पीने में सन्तोष रखें व रसेन्द्रिय को जीत लेवें, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ हो, परन्तु जिसने इन्द्रियो को जीत लिया है उसने मानो सब आत्मा के शत्रुओ को जीत लिया है वही अटल श्रद्धा वाला माना गया है। और साधक अरति को दूर करता है। भावि कर्मों के आश्रव को रोकता है। वह पूर्व सञ्चित कर्मों का क्षय करके क्षण भर में मुक्त हो जाता है।

सवदर्शी ज्ञानियों ने ज्ञान दर्शन चारित्र और तप को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है। कहा है'—

ज्ञान, चरण दो भेद है, मुक्ति कारण जाण ।
तप, सयम वीहू दाखिया, भावए मनमा आण ॥
ज्ञान भजो भविप्राणिया ।

कहा है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप यह सब मोक्ष के ही कारण हैं। साधक ज्ञान से जीवन तत्वो को जानता है, दर्शन से उनके ऊपर श्रद्धा करता है, चारित्र के द्वारा उन्हे ग्रहण करता है और तप से परिशुद्ध होता है। इस प्रकार के साधन करने वाले जिज्ञासु को चाहिये कि कर्म बन्ध के कारणो की खोजें और खोज कर उनका छेदन करें फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का सञ्चय करें, चाहे वह साधक वृद्धावस्था में भी जाग्रत हो कर संयम के मार्ग पर चल पड़े और तप, सयम, क्षमा तथा ब्रह्मचारी को प्रिय समझ कर उनमें रमण करने लग जाए तो वह शीघ्र ही अमरत्व (मोक्ष) सुख को प्राप्त हो जाते हैं।

परन्तु यह कब होता है कि जब इन बातों पर भगवान महावीर के बतलाये हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन पर श्रद्धा (विश्वास) होवे तो कार्य सिद्ध हो सकता है, वर्ना नही।

जैसे उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है —

नाण सणिस्स नाण । नाणेण विणन हुति, चरण गुणा ।
अगुणिस्स नत्थि। मोक्खो नत्थि, अमोक्खस्स निव्वाण ।

अर्थ —श्रद्धा हीन को ज्ञान नही होता, ज्ञान हीन को आचरण नही होता आचरण हीन को मोक्ष नही मिलता और मोक्ष पाये विना निर्वाण पूण शान्ति नही मिलतो। आचरण (विवेक) हीन मनुष्य को ढेरो के प्रमाण जितने शास्त्र सुना देवे या पढावे। परन्तु उसे कुछ भी ज्ञान नही होता। जैसे कि लाखो करोडो जलते हुए दीपक अन्धे मनुष्य के देखने में सहायक नही होते हैं, वैसे ही उसे कुछ भी लाभ नही हो सकता।

जो मोक्ष मार्ग को देखना है व उसकी साधना करना है तो राग, द्वेष को जीतलो विनय विवेक से ज्ञान को ग्रहण करो। विनयभाव से सीखा हुआ ज्ञान कभी नष्ट नही होता है। और इस लोक में और परलोक में, दोनो लोको में फलदायक होता है।



सारांश

उपरोक्त पुष्पमाला से रमण करने के बाद आप महानुभावो से नम्र निवेदन है कि आप अपने आपको टटोलें कि इस समय आप किस मञ्च पर खडे हैं ? फिर वहा से अपनी जीवन यात्रा का शुभारम्भ करें। साथ में इन तत्वों का यथा समय प्रयोग करें। इससे आपको परमानन्द मिलेगा। सच्चा व्यक्तित्व निखर उठेगा। दुनिया आपके सामने नत मस्तक होगी। केवल अभ्यास एव सच्चा ज्ञान ही जीवन को आनन्द से प्लावित करता है।

